श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थ

- पुस्तक
  पुष्प-पराग

- प्रवचन
  महासती पुष्पवती

- सम्पादन
  देवेन्द्रमुनि शास्त्री

- विषय
  धर्ममय जीवन की प्रेरण

सम्पादकीय कलम से

साहित्य संस्कृति की आत्मा है। वह सामाजिक भावना, भ्रान्तिमय चिन्तन और जीवन के विभिन्न पक्षों की विशुद्ध अभिव्यंजना है। समाज के यथार्थ स्वरूप को बताने वाला निर्मल-दर्पण है। वह किसी भी भाषा, देश और समाज का सामयिक समर्थक नहीं होता, अपितु वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक नियमों पर आधृत होता है। यही कारण है कि भले ही साहित्य विभिन्न भाषाओं में लिखा गया हो, उसके अभिव्यक्ति के प्रकार पृथक्-पृथक् रहे हों। पर सभी साहित्य का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करने पर यह सहज ही परिज्ञात होता है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, करुणा, स्नेह सहानुभूति की भाव धारा जीवन और मरण की समस्याएँ सभी में एक सदृश है। प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा को निहार कर मानव का पुलकित होना, कष्ट से कराहते हुये प्राणियों को देखकर मन में सहज सहानुभूति होना, भोले-भाले बालकों की क्रीड़ाओं को निहार कर वात्सल्य भावना का उभर आना सहज है। साहित्य में साधक के हृदय की सहज अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। वह शाश्वत सत्य और सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देता है। वह सत्य के महासागर में प्रविष्ट होकर जीवन-सौन्दर्य को निखारने वाले भाव रूपी मुक्ताओं को चुनकर शब्दावली की लड़ी की कड़ी में पिरोकर ऐसा "हार" प्रस्तुत करता है कि उसे धारण करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व में चार चाँद लग जाते हैं।

सौन्दर्य-पिपासा मानव की सनातन प्रवृत्ति है। वह अपनी गूढ़-गम्भीर ग्रन्थियों को जहाँ सुलझाता है वहाँ वह सौन्दर्य-वृत्ति की तुष्टि और पुष्टि के लिये ग्रीष्म-ग्रीष्म की उष्मा, बसन्त की सुषमा और शरद की निर्मलता से प्रभावित होता है। विश्व के कण-कण में सौन्दर्य का अनन्त सागर ठाठें मारता हुआ उसे दृष्टिगोचर होता है। जब वह भौतिक-प्रकृति के सौन्दर्य को निहारता हुआ आन्तरिक-सौन्दर्य को निहारने की ओर मुड़ता है। तभी वह बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनता है।

इस विराट् विश्व में मानव ही सर्वाधिक चिन्तनशील प्राणी है। वह विश्व की विभूति है। उसने चिन्तन की जितनी दृष्टि फैलाएँ हैं विश्व के बिम्ब का उसने ही दृष्टिकोण से दर्शन किया जाता है। विश्व-दर्शन के इतिहास का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि समय के पथ पर बढ़कर मूर्धन्य दार्शनिकों ने इस विश्व को विराटता का अवलोकन और चिन्तन-मनन किया है। मनन और चिन्तन कर अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। चाहे वे प्राच्य महान् दार्शनिक रहे हों, या आधुनिक रहे हों। चाहे पौर्वात्य रहे हों, चाहे पाश्चात्य रहे हों। उन्होंने जीवन और जगत् के

सम्बन्ध में, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में, धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में, चिन्तनपरक समाधान प्रस्तुत किये हैं !

यह पूर्ण सत्य है, कि मध्ययुग में वितण्डावादी मनोवृत्ति का प्राधान्य था। या अन्धश्रद्धा का स्वर मुखरित था। पर आज अन्ध-परम्पराओं और अन्धरूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का युग लद चुका है। आज प्रत्येक वस्तु तर्क की तुला पर तोल कर ही ग्रहण की जाती है। धर्म को भी जीवन व्यवहार में प्रज्ञा की कसौटी पर कसकर अपनाया जाता है। जब तक प्रज्ञा के मापक में वह खरा न उतरे, तब तक उसे अपनाना कोई पसन्द नहीं करता।

नवयुग का मानव अपने वर्तमान जीवन की यात्रा नये परिवेश में प्रारम्भ करना चाहता है। आज आवश्यकता है कि चिन्तक साधकों की, जन-जन को कल्याण प्रदान करने वाली चिन्तन रूपी गङ्गा को जीवन के समतल पर प्रवाहित करने की। जिस से प्रत्येक मानव धर्म रूपी पीयूष-प्रवाह को पाकर आधि, व्याधि और उपाधि के त्रिविध-ताप से मुक्त हो सके और समाधि को प्राप्त कर सके।

ज्येष्ठ भगिनी परमविदुषी साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी आधुनिक युग की एक सौम्य और प्रबुद्ध विचारिका साधिका है। जो प्रतिपल प्रतिक्षण अपनी साधना एवं चिन्तना का अमोल अर्घ्य-जन-जन को समर्पित करती हैं। उन के विचारों में मौलिकता है। चिन्तन में गहराई है। और विकृति को नष्ट करने की प्रखरता है। विश्व की अनेक समस्याओं को वे अपने गहन अध्ययन के द्वारा सुलझाती हैं।

जब वे प्रवचन करती हैं तो लगता है कि साक्षात् सरस्वती पुत्री की वाग्धारा प्रस्फुटित हो रही है। वे जैन परम्परा में पली-पुसी हुई साध्वी हैं। जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन है। इसलिये जैन दार्शनिक पहलुओं को तन्मयता के साथ छूती हैं। तो अन्य धर्म और दर्शकों के प्रति भी वे—उदार दृष्टिकोण के साथ चिन्तन करती हैं। उनमें सम्प्रदाय-विशेष का आग्रह नहीं, किन्तु सत्य का आग्रह मुख्य रूप से रहा हुआ है। उन्होंने बड़ी तन्मयता और सूक्ष्मता के साथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, अनेकान्त, ध्यान और योग आदि विविध विषयों पर गहराई से प्रकाश डाला है।

इन प्रवचनों में जितनी सरलता और सहजता है उतना ही चुटीलापन और हृदय को उद्बोधित करने की तीव्रता भी है। उनकी विमल वाणी में नदी की तरह प्रवाह है, पर उसमें न कृत्रिमता है, न घुमाव है और न शब्दों में आडम्बर है। इन प्रवचनों में बहुश्रुतता और सूक्ष्म प्रतिभा का स्पष्ट परिचय है। उन्होंने ऐसा सर्वांगीण सर्वतोमुखी विवेचन प्रस्तुत किया है कि उसे पढ़कर प्रबुद्ध पाठक आनन्द से विभोर हुए बिना नहीं रह सकता।

मातश्री के प्रवचन सागर में से कतिपय विचार मुक्ताओं को लिपिबद्ध किया है उनकी प्रिय शिष्याएं महासती चन्द्रावती जी, महासती प्रियदर्शना जी, महासती किरन

प्रभाजी और महासती रत्न ज्योतिजी ने। उस सामग्री को सम्पादित करने का दायित्व परमादरणीया प्रतिभामूर्तिमातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी ने मुझे सौंपा था। मैं अन्यान्य लेखन कार्य में व्यस्त रहा जिससे सम्पादन में विलम्ब होता गया और इधर प्रेस में भी आवश्यकता से अधिक समय लग गया अत्यन्त परिताप है कि इसी बीच दयायक दि० २७ जनवरी १९८२ को मातेश्वरी महासती जी का स्वर्गवास हो गया। क्रूर काल ने मां को सदा के लिए हमारे से छीन लिया।

वे भौतिक शरीर से आज हमारे बीच नहीं है किन्तु यशःशरीर से आज भी जीवित हैं और कल भी जीवित रहेंगी। काल की काली छाया उनके यशःशरीर को कभी भी आच्छादित नहीं कर सकती। वे सरलता, स्नेह-सद्‌भावना प्रभृति सद्गुणों की आगार थीं। एक नहीं अपितु हजारों सद्‌गुण उनके जीवन में थे। वे मेरे जीवन का निर्माण करने वाली थी और प्रिय बहिन के जीवन का भी। उनके स्वर्गवास से श्रमणी संघ मे एक तेजस्वी साधिका की क्षति हुई है। हम शासनेश से यही प्रार्थना करते हैं कि हम उन्हीं की तरह ज्ञानदर्शन और चारित्र के पथ पर निरन्तर बढ़ते रहें।

श्री रमेश मुनि, श्री राजेन्द्र मुनि, श्री दिनेश मुनि की सतत सेवा भावना सम्पादन कार्य में सहयोगी रही है। श्रीचन्द्रजी सुराणा 'सरस' के सरस स्नेह से मुद्रण में निखार आया है। उदारता महानुभावों ने अपनी उदारदाता का परिचय देकर श्रद्धा-स्निग्ध सद्‌भावना व्यक्त की है वह भी भुलायी नहीं जा सकती।

बहिन महाराज का विराट् प्रवचन संग्रह व निबन्ध संग्रह तैयार पड़ा है यह प्रथम पुष्प है, यदि समय मिला तो अगले पुष्प भी जिज्ञासु पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत किये जायेंगे।

गढ़ सिवाना

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

□□

प्रकाशकीय-प्रकाश

अपने स्नेही पाठकों को कर-कमलों में 'पुष्प-पराग' पुस्तक अर्पित-समर्पित करते हुए हृदय प्रसन्नता से झूम रहा है। हमारा परम सौभाग्य है कि हम पूज्य गुरुदेव श्री की असीम कृपा से नित्य-नूतन श्रेष्ठतम साहित्य अपने प्रबुद्ध पाठकों को समर्पित कर रहे हैं। हमारे द्वारा प्रकाशित साहित्य को भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने खूब सराया है। वे उसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं। जिससे हमें अपने सद्गुरुओं के प्रति महान गौरव है।

महासती श्री पुष्पवती जी साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनि जी की ज्येष्ठ भगिनी हैं। परम विदुषी प्रतिभासम्पन्न साध्विरत्न हैं। आगम, धर्म, दर्शन की गंभीर ज्ञाता हैं। संस्कृत, प्राकृत प्रभृति, प्राचीन भाषाओं का आप श्री ने तलस्पर्शी अध्ययन किया है। जब आप प्रवचन करती हैं तो विषय के तलछट तक पहुँचती हैं। आपके प्रवचनों में दार्शनिक गंभीर रहस्य रूपकों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। जिससे श्रोता सहज रूप से उन रहस्यों को हृदयंगम कर लेते हैं।

लेखन व प्रवचन करने वाली हैं बहिन और सम्पादक हैं भाई। बड़ी बहिन महासती जी के लेखन व प्रवचनों को लघु भाई ने सम्पादित कर प्रस्तुत किये हैं। देवेन्द्र मुनि जी सफल लेखक और कुशल सम्पादक हैं। आजदिन तक उन्होंने शताधिक ग्रन्थों का लेखन व सम्पादन कर स्थानकवासी जैन समाज में एक गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त किया है। बहिन के हार्दिक भावों को जिस सहजता से भाई पकड़ सकता है उतना दूसरा व्यक्ति नहीं। प्रस्तुत पुस्तक इस बात की साक्षी है।

आज भारत सर्वतंत्र स्वतन्त्र हो चुका है पर जन-जीवन में शान्ति का अभाव है। उसका मूल कारण जीवन में सद्गुणों का ह्रास होना जा रहा है। सद्साहित्य के अध्ययन चिन्तन मनन से जीवन सद्गुणों की सौरभ से महक उठता है इसलिए सद्-साहित्य के प्रचार की आवश्यकता है। आशा है समाज का ध्यान इधर केन्द्रित होगा। जिससे हम आगे अधिक से अधिक श्रेष्ठतम साहित्य प्रकाशित कर सकें।

मंत्री—
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

स्व० सेठ पारसमलजी हस्तीमलजी मुथा

श्रीमान् पारसमलजी सा मुथा रायचूर के ही नहीं, दक्षिण भारत के एक महान प्रतिष्ठित सुश्रावक थे। बाल्यकाल से ही आप में प्रतिभा की तेजस्विता थी। अपने सुमधुर व्यवहार से जन-मन प्रिय बन गए। बाबूराम-हस्तीमल फर्म के आप अधिनायक थे और प्रसिद्ध उद्योगपति थे। स्थानकवासी धर्म के प्रति सुदृढ आस्था थी। धार्मिक सामाजिक और राष्ट्रीय सेवाओं के कारण आप का समाज में मुख्य स्थान था। आप संघ के स्तम्भरूप थे। श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. आदि की भक्ति से उत्प्रेरित होकर दक्षिण भारत में पधारे। आपका दि० २०-१-८१ को स्वर्गवास हो गया। श्रीमती बादाम देवी आपकी धर्म पत्नी धर्मपरायणा सुश्राविका है। आपके लघुभ्राता श्री मदनराज जी सा हैं। तथा आपके तीन पुत्र हैं—मनमोहन जी, नरेन्द्रकुमार जी और राजेन्द्रकुमार जी तथा तीन पुत्रियाँ हैं। आपका पूरा परिवार धर्मपरायण है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः धन्यवाद।

फर्म—बाबूराम हस्तीमल मुथा
महावीर चौक, पो० रायचूर (कर्नाटक)

फर्म—मुथा ज्वे...
२४३, रंगस्वामी टेम्पल स्ट्रीट
बंगलोर-५३ (कर्नाटक)

श्रीमान मिश्रीमलजी प्रतापाजी श्रीश्रीमाल

श्रीमान् मिश्रीमल जी भद्र प्रकृति के सुश्रावक है। आपके पूज्य पिताश्री का नाम प्रताप जी था। और मातेश्वरी का नाम पार्वती बाई। आपकी धर्मपत्नि श्रीमती बालूबाई धर्मपरायण महिला है। श्री पारसमल जी, कानराज जी, गणपतलाल जी ये तीन आपके सुपुत्र है और श्रीमती हरकूबाई, श्रीमती सुवटीबाई ये दो सुपुत्रियां है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन मे आपका हार्दिक आर्थिक सहयोग मिला है, तदर्थ धन्यवाद।

फर्म—आराधना टेक्सटाइल्स
मेन रोड, पो० गंगावती
जि० रायचूर (कर्नाटक)

1

जैनधर्म का प्राणतत्त्व : अहिंसा

जैनदर्शन एक महान् दर्शन है। यों तो विश्व के जितने भी दर्शन और धर्म हैं उन सभी के अपने सिद्धान्त और आदर्श हैं किन्तु उन सभी दर्शनों के सिद्धान्तों और आदर्शों से जैनदर्शन के सिद्धान्त और आदर्श अपनी अनूठी विशेषता रखते हैं। इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अहिंसा-प्रधान है। इसकी विचारधारा हिमालय की तरह उन्नत और सागर की तरह गम्भीर, गहन एवं विराट है। जैनधर्म व दर्शन की हजार-हजार विशेषताएँ हैं, जिनके वर्णन के लिए हजारों पृष्ठों की आवश्यकता होगी, तथापि संक्षेप में यहाँ इसके प्रमुख सिद्धान्त 'अहिंसा' पर चिन्तन किया जा रहा है।

जैनधर्म का मूलाधार : अहिंसा

अहिंसा जैनधर्म का प्राण तत्त्व है। विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा पर अपनी-अपनी परम्परा, परिस्थिति और दृष्टिकोण के अनुसार चिन्तन किया है, किन्तु अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विवेचन और गहन विश्लेषण जैनधर्म में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं है। जैन संस्कृति की प्रत्येक साधना में अहिंसा की भावना परिव्याप्त है, उसके प्रत्येक स्वर में अहिंसा की मधुर ध्वनि गुंजरित है। जैनदर्शन और धर्म की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, शयन करना आदि सभी में अहिंसा का नाद ध्वनित हो रहा है।[1] विचार में, उच्चार में और आचार में सर्वत्र अहिंसा की सुमधुर झंकार है। भगवान महावीर ने अहिंसा का उत्कर्ष बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—जैसे जीवों का आधार स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत भावी ज्ञानियों के जीवन का आधार स्थान शान्ति—अहिंसा है।[2] अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ संगीत है। जब यह संगीत जन-जन के मन में झंकृत होता

---

१. दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन

२. सूत्रकृतांग १-११-१६

१

जैनधर्म का प्राणतत्त्व : अहिंसा

जैनदर्शन एक महान् दर्शन है। यों तो विश्व के जितने भी दर्शन और धर्म हैं उन सभी के अपने सिद्धान्त और आदर्श हैं किन्तु उन सभी दर्शनों के सिद्धान्तों और आदर्शों से जैनदर्शन के सिद्धान्त और आदर्श अपनी अनूठी विशेषता रखते हैं। इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अहिंसा-प्रधान है। इसकी विचारधारा हिमालय की तरह उन्नत और सागर की तरह गम्भीर, गहन एवं विराट है। जैनधर्म व दर्शन की हजार-हजार विशेषताएँ हैं, जिनके वर्णन के लिए हजारों पृष्ठों की आवश्यकता होगी, तथापि संक्षेप में यहाँ इसके प्रमुख सिद्धान्त 'अहिंसा' पर चिन्तन किया जा रहा है।

जैनधर्म का मूलाधार : अहिंसा

अहिंसा जैनधर्म का प्राण तत्त्व है। विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा पर अपनी-अपनी परम्परा, परिस्थिति और दृष्टिकोण के अनुसार चिन्तन किया है, किन्तु अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विवेचन और गहन विश्लेषण जैनधर्म में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं है। जैन संस्कृति की प्रत्येक साधना में अहिंसा की भावना परिव्याप्त है, उसके प्रत्येक स्वर में अहिंसा की मधुर ध्वनि गुंजरित है। जैनदर्शन और धर्म की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, शयन करना आदि सभी में अहिंसा का नाद ध्वनित हो रहा है।[1] विचार में, उच्चार में और आचार में सर्वत्र अहिंसा की सुमधुर झंकार है। भगवान महावीर ने अहिंसा का उत्कर्ष बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—जैसे जीवों का आधार स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत वाली ज्ञानियों के जीवन का आधार स्थान शान्ति—अहिंसा है।[2] अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ संगीत है। जब यह संगीत जन-जन के मन में संकृत होता

---

१. दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन

२. सूत्रकृतांग १-११-११

है, तब मानव-मन आनन्द में झूमने लगता है। यही कारण है कि सुदूर अतीत काल से ही मानव इसकी साधना और आराधना करते रहे हैं। जैनागमों में अहिंसा को 'भगवती' कहा है।[1] यह दया का अक्षय कोष है। दया के अभाव में मानव, मानव न रहकर दानव हो जाता है। सुप्रसिद्ध विचारक इंगरसोल ने लिखा है—जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आँसुओं का फव्वारा सूख जाता है तब मानव रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए साँप के समान बन जाता है।

अहिंसा : प्रवृत्यात्मक और निषेधात्मक

जैनदर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं—'नहीं मारना' यह अहिंसा का एक पहलू है; मैत्री, करुणा, दया, सेवा यह उसका दूसरा पहलू है। प्रथम पक्ष नकारात्मक है, जबकि द्वितीय पक्ष सकारात्मक है। यदि हम केवल अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही चिन्तन करें तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव रखना, उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, उन्हें कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी सम्यक् प्रकार से चिन्तन करना होगा। जैन आगम प्रश्नव्याकरण में जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिये गये हैं[2] वहाँ पर उसे दया, रक्षा, अभय आदि नामों से भी अभिहित किया गया है।[3]

अनुकम्पादान, अभयदान तथा सेवा आदि अहिंसा के ही रूप हैं। यदि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही होती तो जैन दर्शन के महान् आचार्य इस प्रकार का वचन कदापि नहीं कहते। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा शब्द निषेधवाचक है, इसलिए कितने ही व्यक्ति भ्रमित होकर अहिंसा को केवल निवृत्तिपरक ही मानते हैं। वे कहते हैं, अहिंसा प्रवृत्यात्मक है ही नहीं। पर गंभीर चिंतन के पश्चात् यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू हैं। इसलिए निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों में अहिंसा समाई हुई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है; जहाँ एक अपेक्षा से प्रवृत्ति है, वहाँ दूसरी अपेक्षा से निवृत्ति भी है। ये दोनों पहलू अहिंसा के साथ संलग्न हैं। जो केवल अहिंसा को निवृत्तिप्रधान ही मानता है, वह अहिंसा के मर्म को नहीं समझता। वह अहिंसा की पूर्ण साधना नहीं कर सकता। जैन श्रमणाचार के उत्तरगुणों में समिति और गुप्ति का विधान है।

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र
२. प्रश्नव्याकरणसूत्र (संवर द्वार)
३. प्रश्नव्याकरणवृत्ति

समिति प्रवृत्तिपरक है और गुप्ति निवृत्तिपरक है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसारूपी सिक्के के प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो पहलू हैं जो एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं।

जैनदर्शन की अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है, वह विध्यात्मक है। उसमें सर्वजनकल्याण, विश्वबन्धुत्व और परोपकार की भावना सन्निहित है। जैनधर्म की अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। उसका आदर्श 'जीओ और जीने दो' तक ही सीमित नहीं है; किन्तु उसका आदर्श है—'दूसरों के जीने में सहयोगी बनो'। अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी न्यौछावर कर दो।

अहिंसा एक महासरिता के समान है। जब वह साधक के जीवन में इठलाती—बल खाती हुई चलती है तब साधक का जीवन सरसब्ज और रमणीय बन जाता है। अहिंसा का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित करते हुए भगवान महावीर ने कहा—सर्वप्राणों, सर्वभूतों, सर्वजीवों और सर्वसत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, न पीड़ित करना चाहिए और न उनको मारने की बुद्धि से स्पर्श करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध और शाश्वत है।[1] प्राणिमात्र के प्रति संयम भाव रखना ही अहिंसा है।[2] किसी प्राणी को न सताना और न उसके प्रति दुर्भाव रखना, यह अहिंसा का मूलभूत सिद्धान्त है। इसी में विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है।[3] हिंसा के गहनतम अन्धकार को नष्ट करने के लिए अहिंसा के महादीपक की आवश्यकता है।

समत्वयोग : अहिंसा का मूलाधार

अहिंसा का मूल आधार समत्वयोग है। समत्वयोग आत्म-साम्य की दृष्टि प्रदान करता है। इसका तात्पर्य विश्व की सभी आत्माओं को समदृष्टि से निहारना है। सभी आत्माओं के प्रति अपने-पराये का भेद न रखकर सबके साथ समतामूलक व्यवहार, समत्वयोग की सबसे महान् साधना है। समत्व योग की साधना पर बल देते हुए कहा है—"सब आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझो। अन्य प्राणियों की आत्मा में अपने आपको देखो और संसार की समस्त आत्माओं को अपने भीतर देखो।"[4] तात्त्विक दृष्टि से

१. आचारांग ४।२।१४२
२. 'अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो'—दशवैकालिक
३. सूत्रकृताग, १.१.४.१०
४. दशवैकालिक ४।१

सभी आत्माएँ एक सदृश है। सभी में चेतना शक्ति जगमगा रही है। सुख और दुःख की अनुभूति और जीवन-मरण की प्रतीति सबको समान होती है। सभी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता; सभी को अपना जीवन प्यारा है।[1] गीता में श्रीकृष्ण ने भी इस समत्वयोग की साधना करने वाले को परम योगी कहा है। 'जो सभी जीवों को अपने समान समझता है और उनके दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझता है, वही परम योगी है।'[2]

भगवान महावीर ने कहा—छह जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो[3], प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझो[4]। हे मानव! जिसको तू मारने की भावना रखता है, जरा चिन्तन कर—वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है। जिस पर तू अधिकार जमाने की आकांक्षा करता है, वह तेरे समान ही एक चेतन है। जिसे तू दुःख देने की सोचता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसको तू अपने वश मे करने की इच्छा करता है, वह तेरे जैसा ही एक जीव है। जिसका प्राण लेने की तू भावना रखता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है।[5]

श्रावक और श्रमण की अपेक्षा : अहिंसा के दो भेद

जैनधर्म में अहिंसा की एक अविच्छिन्न धारा होते हुए भी साधु-अहिंसा और गृहस्थ-अहिंसा के भेद से उसके दो विभाग कर दिये गये है। साधु की अहिंसा को महाव्रत कहा है। उत्तराध्ययन में अहिंसा महाव्रत की परिभाषा इस प्रकार की है—मन, वचन, काया तथा कृत, कारित, अनुमोदित में किसी भी परिस्थिति में त्रस-स्थावर जीवों को दुःखित न करना, अहिंसा महाव्रत है।[6] अहिंसाव्रती साधु के लिए आवश्यक है कि अपना जो अहित करे उसके प्रति भी क्षमाभाव रखे। उसे अभयदान दे। सदा विश्वमैत्री व विश्वकल्याण की भावना रखे तथा वध करने के लिए तत्पर होने पर भी उसके प्रति जरा भी क्रोध न करे।[7] इस प्रकार की अहिंसा का पालन करना

---

१. आचारांग सूत्र १.२.३
२ गीता अ० ६, श्लोक–३२.
३. दशवैकालिक १०.५
४. सूत्रकृतांग १.१०.३
५ आचारांग सूत्र १-५-५
६ उत्तराध्ययन ८-१०
७. उत्तराध्ययन १२-३२; १२-२,२६; १-२; ८-६

दुष्कर है।[1] अहिंसाव्रती साधु को ऐसी कोई भी क्रिया या मानसिक संकल्प न करना चाहिए जो दूसरों के लिए दुःख का हेतु हो।

परन्तु गृहस्थों की अहिंसा में कुछ मर्यादाएँ हैं। उनके लिए देश-अहिंसा-पालन का उपदेश है। वे गृहस्थाश्रम में रहकर हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें अपने परिवार की, अपनी जाति की, अपने देश की और अपनी संपत्ति की व स्वयं अपनी भी रक्षा के लिए एवं अपने जीवन निर्वाह आदि के लिए आरंभादि कार्य करने पड़ते हैं।

श्रमणोपासक की अपेक्षा से हिंसा के चार प्रकार

गृहस्थ जब हिंसा को छोड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह समस्त हिंसा को चार भागों में विभक्त कर सकता है। ये चार भाग इस प्रकार हैं—

१. सांकल्पिकी—संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा।
२. आरम्भी—भोजनादि बनाने में होने वाली हिंसा।
३. उद्योगी—कृषि आदि में होने वाली हिंसा।
४. विरोधी—आत्मरक्षा के निमित्त से होने वाली हिंसा।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का गृहस्थ द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से त्याग करता है, अन्य तीन हिंसाओं का त्याग वह भाव से करता है। क्योंकि द्रव्य से हिंसा होने पर भी उसका भाव हिंसा की ओर नहीं रहता है।

इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग एवं उपयोग अव्यवहार्य नहीं है। यह तो उपभोक्ता और प्रयोक्ता के मनोभावों पर निर्भर है। निष्कर्ष यह है कि गृहस्थाश्रम में रहकर भी अहिंसा का पालन सम्यक् प्रकार से किया जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि भगवान् महावीर के युग में अहिंसा अणुव्रत का पालन राजा से लेकर रंक तक सभी श्रमणोपासक करते थे।

अहिंसा : कायरता नहीं

किन्हीं लोगों की भ्रान्त धारणा है कि अहिंसा कायरता का प्रतीक है। यह देश को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ती है और कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ने से रोकती है। पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा कायरता नहीं, वीरता सिखाती है। अहिंसा वीरों का धर्म है। अहिंसा का यह वज्र

---

१. उत्तराध्ययन १९-२९

आघोष है—'मानव ! तू अपनी स्वार्थलिप्सा में डूबकर दूसरे के अधिकार को न छीन। किसी भी देश या राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न कर। किसी भी समस्या का समाधान शान्तिपूर्वक कर, इतने पर भी यदि समस्या का सम्यग् समाधान नहीं हो रहा है, और देश, जाति व धर्म की रक्षा करना अनिवार्य हो तो उस समय वीरतापूर्वक कदम उठा सकते हो, किन्तु अहिंसा के नाम पर कायर बनकर घर में मुँह छिपाकर बैठना उचित नहीं है, अपने प्राणों का मोह करके कायर न बनो। किन्तु समय पर अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करो। यदि उस समय तुमने कायरतापूर्ण व्यवहार किया तो वह अहिंसा नहीं, आत्मवंचना है।'

अहिंसा यह कभी नहीं सिखाती कि अन्यायों को सहन किया जाय, क्योंकि अन्याय करना अपने आप में पाप है और अन्याय को कायर होकर सहन करना महापाप है। जिसमें अन्याय के प्रतिकार की शक्ति नहीं वह अहिंसा केवल दिखावे की अहिंसा है।

अन्याय का प्रतिकार हिंसक और अहिंसक दोनों रूप से किया जा सकता है। हिंसक प्रतिकार गृहस्थ-वर्ग से सम्बन्धित है। वह समय पर देश, जाति व धर्म की रक्षा के लिए सब कुछ कर सकता है, क्योंकि भगवान महावीर के श्रावक अनाक्रमण-व्रत को ग्रहण करते थे, आत्मरक्षा के लिए प्रत्याक्रमण के लिए वे मुक्त रहते थे। किन्तु श्रमण हिंसक प्रतिकार नहीं करता। वह समाज व राष्ट्र में पनपने वाले अन्यायों व अत्याचारों का प्रतिकार अहिंसात्मक ढंग से करता है और यह अहिंसक प्रतिकार आत्मबल से ही किया जाता है। साधक का आत्मबल जितना अधिक होगा, उतनी ही उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी। भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध, ईसा और गांधी आदि अहिंसक प्रतिकार के उदाहरण हैं। उन्होंने अहिंसा के द्वारा देश, समाज और राष्ट्र में क्रान्ति किया और अन्याय का प्रतिकार किया।

अहिंसा : सर्वव्यापकता

आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व का समय भारतीय इतिहास में अंधकार युग के नाम से समझा जाता रहा है। उस समय भारतीय क्षितिज में अंधविश्वास और कर्मकांड के काले कजरारे बादल मंडरा रहे थे। यज्ञ के नाम पर देवी-देवताओं के आगे मूक पशुओं की बलि दी जा रही थी। स्त्री-समाज हीन भावना से देखा जाता। वे मानवोचित अधिकारों से वंचित थीं। शूद्रों का दर्जा पशुओं से भी अधिक दयनीय था। उस समय भगवान् महावीर ने क्रान्ति का बिगुल बजाया। ग्राम ग्राम और नगर-नगर में घूमकर अहिंसा और प्रेम का दिव्य सन्देश सुनाया, कर्मकांड का विरोध किया। उनके दिव्य

विचारों की वायु से कुप्रथाओं के बादल बिखर गये और सर्वत्र क्रान्ति का प्रकाश जगमगाने लगा, मानव-समाज में सर्वत्र शान्ति की लहर लहराने लगी। रोहिणेय जैसे दुर्दमनीय दस्युराज और अर्जुनमाली जैसे प्रबल हत्यारे उनकी अहिंसक क्रान्ति से दयामूर्ति बन गये।

अहिंसा अतीत काल से ही मानवता का संरक्षण करती रही है। जब जीवन में विपत्ति के बादल मँडराये, शोक की बिजलियाँ चमकी और भय की विभीषिका दहकने लगी, तब अहिंसा ने प्रलय के मुख में जाते हुए विश्व को बचा लिया। अहिंसा से ही विश्व सुरक्षित रह सकता है। अहिंसा समस्त प्राणियों का विश्राम-स्थान है, क्रीड़ा-भूमि है और मानवता का शृंगार है। अहिंसा का सामर्थ्य असीम है। इसकी शक्ति से अनुप्राणित मनुष्य मात्र अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है, अपने जीवन को विकासोन्मुखी बना सकता है। □□

2

अहिंसा के विविध रूप—१

विकास की अन्तश्चेतना : अहिंसा

मनुष्य को विकास की ओर ले जाने वाली आन्तरिक प्रेरणा या अन्तश्चेतना अहिंसा है। मानव को सज्जन और सज्जन से महाजन (महापुरुष) अगर कोई बना सकती है तो अहिंसा ही बना सकती है। मनुष्य की जीवनशक्ति का यह असीम और अस्खलित बहता हुआ विराट् झरना है। अहिंसा एक व्यापक और विशाल तत्त्व है। भारत के नवीन और प्राचीन उपलब्ध साहित्य में अहिंसा की भिन्न-भिन्न रूप में विस्तृत झांकी मिलती है। भारतीय धर्म की प्रत्येक धारा के ग्रन्थों में अहिंसा को मानव-जीवन के लिए अनिवार्य और उपादेय बताया गया है। धर्म के जितने भी मार्ग हैं, उन सबमें अहिंसा व्याप्त है।

विचारणीय यह है कि अहिंसा मानव जीवन में किन-किन रूपों में रहती है? उसके विविध रूपों को देखकर सहसा व्यक्ति भ्रान्ति में पड़ जाता है कि अहिंसा यह है या वह? प्राचीन काल में भी ऐसी भ्रान्तियाँ बड़े-बड़े विचारकों को हुई हैं, वर्तमान में भी कई जगह ऐसी भ्रान्तियाँ बन रही हैं। अतः यहाँ मैं अहिंसा के उन सभी प्रकारों को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझती हूँ, ताकि अहिंसा के राजमार्ग का आसानी से बोध हो जाय और आप उस पर सरपट चल सकें।

अहिंसा के दो रूप : बाह्य और आन्तरिक

अहिंसा की मुख्य परिभाषाओं में प्रसज्यनञ् समास की दृष्टि से सर्वप्रथम निषेध रूप मिलता है। इस निषेध रूप अहिंसा के ही मुख्यतः दो प्रकार हैं—एक बाह्य अहिंसा, दूसरी आन्तरिक अहिंसा।

बाह्य अहिंसा इस प्रकार की है—किसी भी प्राणी को मारो मत, सताओ मत, दुःख मत दो, गाली या दुर्वचन मत बोलो, किसी को हानि न पहुँचाओ, डराओ मत, द्वेषवश किसी को गाढ़ बंधन में मत बाँधो, किसी को

गुलाम बनाकर मत रखो, किसी को पीड़ित, पददलित मत करो, किसी का भोजन पानी बंद मत करो, किसी पर अत्यधिक बोझ मत लादो, मारो-पीटो मत, किसी की चमड़ी मत उधेड़ो, दम घोंटकर मत मारो, किसी को भी अंग भंग मत करो, इन्द्रियों और मन का विकास मत रोको आदि। ये और इस तरह के कई रूप बाह्य अहिंसा के हैं। इसे जैन परिभाषा में द्रव्य-अहिंसा कह सकते हैं।

दूसरी आन्तरिक अहिंसा है, जो है तो निषेध रूप ही, लेकिन है—भावात्मक। किसी भी प्राणी पर राग-द्वेष, मोह, घृणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि न करना अथवा किसी भी वस्तु के निमित्त से राग-द्वेष, मोह आदि उत्पन्न न होने देना आन्तरिक अहिंसा है। जब कोई व्यक्ति आत्मौपम्य भाव से विपरीत प्रवृत्ति करता है, तब सर्वप्रथम क्रोधादि आन्तरिक हिंसा के परिणाम मन में उत्पन्न होते हैं, वह हिंसा है। उन क्रोधादि आन्तरिक हिंसा के परिणामों को उत्पन्न न होने देना ही आन्तरिक अहिंसा है। इसे जैन परिभाषा में भाव-अहिंसा कह सकते हैं।

जीवन में बाह्य और आन्तरिक अहिंसा आवश्यक

अहिंसा की इन दोनों धाराओं का जीवन में होना आवश्यक है। जैसे हवाई जहाज में दो यंत्र होते हैं। एक यंत्र हवाई जहाज की रफ्तार को घटाता-बढ़ाता है और दूसरा यंत्र दिशा का बोध कराता है। इसी प्रकार अहिंसा के साथ भी ये दोनों प्रकार के द्रव्य-भावरूप या बहिरंग-अन्तरंगरूप यंत्र आवश्यक हैं। अहिंसा का अन्तरंग रूप न हो तो अहिंसा की गति-प्रगति ठीक दिशा में हो रही है या नहीं? इसका पता नहीं चल सकता। कषायों या राग-द्वेषादि के परिणाम जितने कम होते हैं, उतनी-उतनी अहिंसा सीधी दिशा में गति-प्रगति कर रही है, यह समझना चाहिए। क्योंकि कषायों या राग-द्वेष आदि विकारों में जितनी न्यूनता होगी, उतनी ही अधिक तीव्र रफ्तार बाह्य अहिंसा में होती जाएगी। अगर कषायों या राग-द्वेषादि में न्यूनता नहीं होगी तो चाहे बाह्य अहिंसा की रफ्तार तेज हो जाए वह गलत दिशा में समझी जाएगी।

जैसे एक आदमी किसी जीव को मारता-पीटता नहीं, चींटी, चूहा आदि को भी मारता नहीं, मांसाहार एवं शिकार भी नहीं करता, शराब नहीं पीता, यहाँ तक कि कबूतरों को दाना डालता है, कसाई के हाथ से बकरे छुड़ाता है, इस प्रकार बाह्य अहिंसा के काम तो खूब करता है, परन्तु आन्तरिक अहिंसा में वह बहुत पीछे है। बात-बात में क्रोध आ जाता है, मुकदमेबाजी में इतना आगे बढ़ गया है कि अपने विरोधियों के प्रति द्वेष और वैर-विरोध

की भावना रग-रग में रम चुकी है। छुआछूत की भावना इतनी तीव्र है कि कोई हरिजन छू जाए तो उसे नहाने लगता है। हरिजनों के प्रति घृणा-भावना है। स्वार्थ और लोभ भी तीव्रतर है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि भाव अहिंसा या आन्तरिक अहिंसा जीवन में न आने से बाह्य अहिंसा की जड़ें भी हिल जाती हैं। यह बाह्य अहिंसा, जिसका पालन यह करता आ रहा है, स्वार्थ या शोषण भाव-हिंसा से टकरा कर एक दिन चूर-चूर हो जाती है। इसलिए बाह्य अहिंसा की जड़ें, आन्तरिक अहिंसा के द्वारा सींची हुई होनी चाहिए; तभी बाह्य अहिंसा सही दिशा में प्रगति करेगी और बाह्य अहिंसा की तेज रफ्तार पर नियंत्रण भी हो सकेगा अर्थात् बाह्य अहिंसा एवं आन्तरिक अहिंसा दोनों में सन्तुलन रह सकेगा।

बाह्य अहिंसा के साथ जब आन्तरिक अहिंसा होगी तो बाह्य अहिंसा भी स्थायी और सुदृढ़ हो जाएगी और उसका प्रभाव भी हिंसापरायण व्यक्ति पर पड़े बिना न रहेगा।

अहमदाबाद के पास बापजीपुरा गाँव के बाहर घनी झाड़ियाँ हैं। वहाँ एक शिकारी आया और उसने एक स्वच्छन्द विचरण करते हुए निर्दोष मोर की ओर बंदूक का निशाना ताका। संयोगवश वहाँ का निवासी एक ठाकरड़ा कौम का भाई आया और जब मोर को मारने के लिए बंदूक तानते हुए उक्त शिकारी को देखा तो झटपट आकर उसका हाथ पकड़ लिया। उसे समझाया—"भाई! इस निर्दोष मयूर को क्यों मार रहे हो? इसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? और फिर यह राष्ट्रीय पक्षी है, इसे मारना अपराध है। जाओ, अपने घर।"

शिकारी ने कहा—"मेरा तो काम ही यही है। मैं तो इसे मारूँगा। तुम मेरे सामने से हट जाओ।"

इस पर ठाकरड़ा भाई ने बहुत समझाया। इस पर भी वह नहीं माना तो ठाकरड़ा भाई ने उससे कहा—"मैं अपने रहते मोर को नहीं मारने दूँगा। अगर मारना हो तो पहले मुझे मारो।"

यों कहकर वह बंदूक के सामने छाती तान कर खड़ा हो गया।

शिकारी के हृदय में सद्विचार की किरण फूटी। उसने कहा—"लो भाई! जब तुम नहीं मानते हो तो मैं इस मोर को नहीं मारूँगा।"

ठाकरड़ा भाई ने उसके प्रति सहानुभूति बताई और उसे अपने घर ले

गया। भोजन कराया। धीरे-धीरे उसके जीवन में जो शिकार की आदत थी उसे छुड़ाकर दूसरे उत्तम धंधे में उसे लगाया।

टाकरड़ा भाई के मन में आन्तरिक अहिंसा न होती तो वह मोर को बचाने के लिए प्राणों की बाजी लगाने को तैयार न होता, साथ ही उक्त शिकारी पर भी उसके कथन का प्रभाव न पड़ता और न ही वह शिकारी की दयनीय दशा पर विचार करके उससे शिकार का धंधा छुड़ाकर उसे दूसरे उत्तम धंधे में लगाता।

इसलिए अहिंसा के लिए पालन के लिए बाह्य-अहिंसा के साथ-साथ आन्तरिक अहिंसा का होना जरूरी है। वास्तव में बाह्य-अहिंसा का प्रेरणा-स्रोत तो आन्तरिक अहिंसा ही है। अगर आन्तरिक अहिंसा न हो तो बाह्य अहिंसा स्थायी नहीं रह सकती, किसी भी समय लड़खड़ा सकती है। बाह्य अहिंसा वृक्ष की डालियों और पत्तों के समान है तो आन्तरिक अहिंसा वृक्ष की जड़ है। आन्तरिक अहिंसा के अभाव में एकान्त बाह्य अहिंसा का आचरण मूलविहीन वृक्ष के केवल पत्तों और डालियों को सींचने के समान है।

आप कह सकते हैं कि तब तो हम आन्तरिक अहिंसा का ही पालन करें, बाह्य अहिंसा को छोड़ दें तो क्या आपत्ति है? वैसे देखा जाय तो जिस के जीवन में आन्तरिक अहिंसा आ जाएगी, वह बाह्य अहिंसा का आचरण स्वतः करेगा ही। जब भी प्रसंग आएगा, वह बाह्य अहिंसा पर ही टिकेगा। कम से कम बाह्य हिंसा का आचरण तो वह नहीं करेगा। परन्तु स्थूलदृष्टि वाले सामान्य व्यक्ति को सहसा पता नहीं लगता कि यह व्यक्ति अहिंसक है। इसलिए लोक-व्यवहार में बाह्य अहिंसा के पालन की भी आवश्यकता है, ताकि सामान्य व्यक्ति भी उससे भली-भाँति परिचित हो जाय। आन्तरिक अहिंसा के साथ बाह्य अहिंसा का व्यवहार देखकर हिंसक व्यक्ति भी प्रभावित हो सकता है। उस पर भी उसके अहिंसामय व्यवहार की छाप पड़ सकती है।

बाह्य अहिंसा के आचरण का दूसरा कारण यह भी है कि आन्तरिक अहिंसा की पूर्णता ही बाह्य अहिंसा से होती है। बाह्य अहिंसा के अभाव में आन्तरिक अहिंसा की बात करना कोरा दम्भ और आडम्बर ही है। जो व्यक्ति स्पष्ट रूप से तो हिंसा करता है और कहता है कि मैं आन्तरिक अहिंसा का पालन कर रहा हूँ, उस पर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। जैसे मांस का आहार करता हुआ व्यक्ति कहे कि मैं मांसाहार से परहेज रखता हूँ,

मानते। अतः यहाँ तो तुम्हारी पसन्द का मुर्ग-मुस्सल्लिम कोई नहीं बना सकता। तुम्हारा सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। इसलिए यह मुर्गा तैयार है और छुरा भी। आगे जो तुम कहो, वह किया जाए ?"

सुनते ही टॉल्स्टॉय की बहन घबरा गई। उसके काटो तो खून नहीं। वह सुन्दर, भोले-भाले, जीवन से बेफिक्र एवं मस्त मुर्गे को देखती रही, और फिर छुरे की तेज धार को भी। मुर्गे की आँखों की चमक और दया भरी मूक पुकार देख कर सोचा—'यह तो मानव को प्रेरणा देने वाला है। जरा-से जीभ के स्वाद के लिए मैं इस सुन्दर पक्षी के प्राण लूँ! नहीं, यह नहीं हो सकता। मुझे इसके प्राण लेने का अधिकार ही क्या है? यह निरपराध है। अपने रूप और वाणी से मुर्गा मानव को प्रसन्न करता है। नहीं, मैं इसे नहीं खाऊँगी और आज से किसी भी जानवर का मांस नहीं खाऊँगी।'

इस प्रकार टॉल्स्टॉय के अहिंसक आचरण ने उनकी बहन को भी शाकाहारी बना दिया। उसका हृदय बदल गया। टॉल्स्टॉय के जीवन से कितने ही लोगों को अहिंसा धर्म के पालन की प्रेरणा मिली।

इस दृष्टि से मैं मानती हूँ कि आन्तरिक अहिंसा के साथ-साथ बाह्य अहिंसा का भी होना आवश्यक है। आन्तरिक अहिंसा भावात्मक होने से चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देती, जबकि बाह्य अहिंसा क्रियात्मक होने से स्पष्ट दिखाई देती है। इसलिए दोनों साथ-साथ होने से आत्मा का विकास त्वरित गति से होता है। तीर्थंकर यद्यपि वीतराग होते हैं, उनके जीवन में आन्तरिक अहिंसा तो कूट-कूट कर भरी होती है, तथापि वे बाह्य अहिंसा का भी विधिवत् आचरण करते हैं। प्रत्येक क्रिया यतनापूर्वक करते हैं। लोक-व्यवहार को वे जरा भी नहीं छोड़ते। वे समझते हैं कि इस अहिंसा पथ पर आने वाले मेरे अनुगामी भी मेरा ही अनुसरण करेंगे। अगर मैं केवल निश्चय-दृष्टि के अनुसार आन्तरिक अहिंसा को ही अपनाऊँगा, बाह्य-अहिंसा का व्यवहार नहीं करूँगा, तो मेरे अनुगामी भी वैसा ही करेंगे। इसलिए उन्होंने भी आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की अहिंसा को जीवन में स्थान दिया।

यहाँ तक हुई दोनों प्रकार की निषेधात्मक अहिंसा की चर्चा!

विधेयात्मक अहिंसा से ही अहिंसा की पूर्णता

एक बात निश्चित है कि केवल निषेधात्मक अहिंसा से अहिंसा का स्वरूप पूर्ण नहीं होता। कभी-कभी बुद्धिजीवी लोग भी अहिंसा शब्द के साथ निषेध जुड़ा हुआ देखकर भ्रान्ति से अहिंसा का अर्थ 'हिंसा न करना' इतना समझ लेते हैं। इस भ्रम ने अतीत काल में अनेक अनर्थ उत्पन्न किये हैं और

आज भी वह अनेक लोगों को चक्कर में डाले हुए है। इस भ्रान्त और अपूर्ण अर्थ से अहिंसा का साधक अहिंसा को केवल व्यक्तिगत साधना की चीज समझकर, दूसरे के लिए कुछ न करने में ही अपना कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है।

एकान्त निषेधात्मक अहिंसा के आचरण से कभी-कभी व्यक्ति में निष्ठुरता, स्वार्थ, उदासीनता और दूसरों के प्रति उपेक्षा या [illegible] आ जाता है; जबकि निषेधात्मक अहिंसा के साथ-साथ विधेयात्मक अहिंसा से साधक में अपनी साधना के साथ-साथ संकटग्रस्त, पीड़ित एवं दुःखित प्राणियों के प्रति सहानुभूति, दया और सहृदयता बनी रहती है।

एक राजा था। वह शिकार के लिए वन में गया। वहाँ उसने निरीह वन्य पशुओं को निर्दयतापूर्वक मारा और अपनी राजधानी की ओर लौटने लगा। रास्ते में एक तपस्वी का आश्रम था। राजा ने उन्हें नमस्कार करके पूछा—"महात्मन् ! आप यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

"राजन् ! मैं यहाँ साधना कर रहा हूँ"—तापस ने कहा।

राजा ने पूछा—"कब से यह साधना कर रहे हैं ?"

तापस ने कहा—"बहुत वर्ष हो गए है, इसे करते-करते।"

राजा बोला—"तो फिर यह कब पूरी होगी ?"

तापस ने उत्तर दिया—"मेरे गुरु ने मुझे एक सूखा डंडा दिया है और बताया है कि जब इस डंडे में पत्ते और फल लग जायेंगे, तभी मेरी साधना पूर्ण होगी।"

"वाह महाराज ! क्या डंडे के कोई पत्ता लगा है ?" राजा ने साश्चर्य पूछा।

तापस ने कहा—"हाँ देखो, मेरे डंडे में अभी एक अंकुर फूटा है।"

राजा देखकर दंग रह गया। वह चमत्कार को देखकर प्रभावित हुआ। सोचा—'मैंने। इतने वर्ष बेकार ही स्वादलिप्सा के वश में होकर बेचारे निरीह पशुओं के खून से हाथ रंगे। अब मेरी इस पापी जिन्दगी का उद्धार कैसे होगा ? क्यों नहीं, मैं भी ऐसी साधना करके जिन्दगी सफल कर लूँ।' राजा ने तापस से अनुनय-विनय करके आत्म-कल्याण का मार्ग पूछा तो उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा—"लो, तुम्हारा पशुवध करने का फरसा ही तुम्हें दे रहा हूँ। इसे ले जाकर जहाँ साधना करो, वहीं भूमि में गाड़ देना। जिस दिन इसमें अंकुर फूटें, पत्ते, फूल, फल लगें, समझ लेना, तुम्हारी साधना सफल हो गई। साधना सफल होते ही मेरे पास लौट आना।"

राजा ने अपने तापस गुरु को नमस्कार करके विदा ली और थोड़ी ही दूर पर एकान्त, शान्त भूमि पर अपना आसन जमाया, फरसे पर कपड़ा लपेटकर गाड़ दिया। स्वयं समाधिस्थ हो गया।

संयोगवश उसी रात्रि को भयंकर आँधी, तूफान और वर्षा हुई। एक यात्री सपरिवार उसी जंगल में गुजर रहा था, वह रास्ता भटक गया। बेचारा परेशान होकर उसी तापस के पास आया और गिड़गिड़ाकर कहने लगा—"तपोधन! मैं मार्ग भूल गया हूँ। मेरे साथ स्त्री-बच्चे हैं, वे बिलख रहे हैं, कृपया मुझे रास्ता बताइए, जिससे मैं अपने स्थान पर पहुँच सकूँ।"

इतना सुनना था कि तापस क्रुद्ध होकर कहने लगा—"मैं अपनी साधना करूँ या तुम्हें रास्ता बताता फिरूँ? क्या मैंने तुम्हें अपनी साधना भंग करके रास्ता बताने का ठेका लिया है? जाओ, अपना रास्ता नापो। अपने कर्मों का फल भोगो।"

बेचारा यात्री बहुत रोया-धोया, बहुत ही अनुनय-विनय की, लेकिन तपस्वी का हृदय नहीं पिघला। बल्कि उस तापस ने उस यात्री को सपरिवार अपने अधिकृत क्षेत्र से बाहर निकाल दिया।

दुःखित यात्री आगे बढ़ा। कुछ ही दूर पर उसे वह राजर्षि नजर आये। उनके पास पहुँचकर नमस्कार करके यात्री बैठा। राजर्षि ने पूछा—"भाई! इस भयंकर तूफान में तुम यहाँ कैसे भटक गए?" यात्री बोला—"योगीराज! मैं क्षमा चाहता हूँ, आपकी साधना में विघ्न डालने के अपराध के लिए! मैं रास्ता भूल गया हूँ, मैं आपसे रास्ता पूछने आया हूँ।"

"साधना में कौन-सा विघ्न हो गया? यह भी तो मेरी साधना है कि मैं भूले-भटके को रास्ता बताऊँ।" चलो, मैं तुम्हें रास्ता बता देता हूँ।"

यों कहकर राजर्षि उठे। उस यात्री को सब परिवार के अपने साथ लिया और भयंकर अंधेरी रात में उसे दूर तक सुरक्षित पहुँचा कर लौटे। रातभर तूफान चलता रहा। वर्षा, बादलों और बिजली का गर्जन-तर्जन होता रहा।

सवेरे ही उठते ही राजर्षि ने आँखें खोलीं। सोचा—'रात्रि तो गई, मेरे करने से क्या काम बन नहीं?' फिर विचार आया—'अभी एक ही दिन तो साधना को हुआ है। मेरे गुरुजी को तो वर्षों साधना [illegible] फिर भी एक ही अंकुर फूटा है, तब मैं इतनी [illegible] मन को यों समझाकर बैठे। फिर [illegible] हुए म

है। विधेयात्मक अहिंसा में प्रवृत्त होने, से पहले व्यक्तिगत जीवन में हिंसा के द्रव्य-भावात्मक दोनों पहलुओं से निवृत्ति हुई है या नहीं? यह देखना बहुत आवश्यक है। अगर अहिंसा के साधक की हिंसा के दोषों से विरति नहीं हुई है और वह लोककल्याण, समाज-सेवा या सामाजिक चेतना के अभ्युदय के लिए प्रवृत्त होगा तो उसकी वह प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकेगी। किन्तु जब साधक अपने मर्यादाहीन व्यक्तिगत स्वार्थ, मोह, द्वेष, कषाय आदि हिंसा के रूपों से निवृत्त होकर समाज-सेवा या राष्ट्र-सेवा या समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करेगा तो उसकी वह प्रवृत्ति विशुद्ध होगी, अहिंसा से पुनीत होगी, उसका जीवन और अन्तःकरण भी उक्त प्रवृत्ति से निर्मल होगा। व्यक्तिगत आशंसाओं, फलासक्ति एवं देहासक्ति से निवृत्ति लेकर अहिंसा की विधेयात्मक प्रवृत्ति करना ही जैनदर्शन का नैतिक विधान है। इसका हार्द यही है कि व्यक्तिगत जीवन में हिंसाजन्य दोषों से निवृत्ति और सामाजिक जीवन में लोकहिताय प्रवृत्ति। श्रावक, लोकसेवक या समाज या राष्ट्र का सेवक व्यक्तिगत स्वार्थों, कषायों, आदि से दूर रहे और समाज या राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त हो, यही निवृत्ति का रहस्य है।

अहिंसा चरित्र का एक अंग है। साधक के चरित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को बराबर का स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त निवृत्तिरूप है और न ही एकान्त प्रवृत्तिरूप। चारित्र का लक्षण करते हुए कहा है—

'असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।'[1]

अर्थात्—अशुभ कार्यों, बुरे संकल्पों, दुर्वचनों एवं कुत्सित आचरणों से निवृत्ति करना और शुभ कार्यों, संकल्पों, सुवचनों एवं सदाचरणों में प्रवृत्ति करना ही चारित्र है।

साधक के लिए कहा गया है—"वह एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे।"[2]

सारांश यह है कि एक ओर किसी को कष्ट, दुःख या पीड़ा न पहुँचाओ, मारो-पीटो या सताओ मत, न किसी से वैर, द्वेष, मोह, ईर्ष्या

---

१. [illegible] नेमिचन्द्र।

२ एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥

आदि रखो, और न किसी से दुर्वचन या कटुवचन कहो, न ही किसी के प्रति बुरा संकल्प, दुश्चिन्तन ही करो। यह अहिंसा का निवृत्तिपरक पहलू है। दूसरी ओर प्राणिमात्र की सेवा, दया, करुणा, क्षमा, प्रेम, मैत्री, समर्पण आदि करना, पीड़ित जनों की पीड़ा दूर करना, उन्हें उचित सहयोग देना, स्वयं जीना और दूसरों को जिलाना। यह और इस प्रकार का अहिंसा का प्रवृत्ति-परक पहलू है। यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रमण को अपनी मर्यादा है उसी में रहकर वह दूसरों की सेवा आदि कर सकता है। मर्यादा का अतिक्रमण करके नहीं। इसी प्रकार श्रावक की भी मर्यादाएँ हैं; किन्तु गृहस्थ होने के नाते सामाजिक कर्त्तव्यों को निभाना उसके लिए आवश्यक है। अतः उसके लिए सेवा आदि का विस्तृत क्षेत्र खुला रहता है।

इसलिए अगर आप अहिंसा के सिर्फ नकारात्मक (निवृत्तिरूप) पहलू पर ही सोचेंगे तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। अहिंसा की सम्पूर्ण साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी भलीभाँति विचार करना चाहिए। जैनागम प्रश्नव्याकरणसूत्र में जहाँ अहिंसा के ६० एकार्थक नाम दिये हैं वहाँ दया, खंती (क्षमा), रक्खा (रक्षा), अभय, समिई (समिति), जण्णो (यज्ञ) आदि विधेयात्मक (प्रवृत्तिपरक) नामों का भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र में, *मित्ती भूएहि कप्पए'* (प्राणिमात्र के साथ मैत्री करो), 'वेयावच्च' (वैयावृत्य—सेवा), समता, दशवैकालिक सूत्र में सर्वभूतात्मभूत, दया आदि शब्द अहिंसा के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए अहिंसा प्रवृत्ति-निवृत्ति—उभयात्मक है। यदि वह प्रवृत्त्यात्मक नहीं है तो अकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य ही है, न अस्तित्व ही। अनुकम्पा, अभयदान, सेवा आदि शब्द भी अहिंसा के प्रवृत्तिप्रधान रूप हैं। अहिंसा शब्द भाषा शास्त्र की दृष्टि से निषेधवाचक जरूर है, लेकिन गहन चिन्तन के बाद स्वीकार करना होगा कि अहिंसा प्रवृत्तिपरक या विधेयात्मक भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है, दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मानकर चलता है, वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नहीं कर सकता, न ही अहिंसा की आत्मा को परख सकता है।

प्रवृत्ति की सीमा

जैनधर्म कहता है—प्रवृत्ति करो, पर वह निवृत्तिमूलक होनी चाहिए। यानी प्रवृत्ति (विधेयात्मक अहिंसामय)

प्रवृत्ति से पहले निषेधात्मक अहिंसा

नहीं ?

मान लीजिए, एक व्यक्ति धनाढ्य है, वह दान करता है, उसने यात्रियों के लिए धर्मशाला बनवा दी है, गरीबों की सेवा के लिए उसने कोई संस्था खोल दी है। किन्तु दूसरी ओर से वह शोषण का कुचक्र भी चला रहा है, अपने नौकरों से उनके सामर्थ्य से अधिक काम लेता है, जरा-से देर से आने पर वेतन काट लेता है। तो ये बातें उस सेवा और दान के साथ कैसे मेल खा सकती हैं? यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई एक बोतल रक्त निकालकर बदले में एक-दो बूँदें रक्त दे दे, या सौ-दो सौ घाव करके एक-दो घावों पर मरहम-पट्टी कर दे। अतः ऐसे दान और ऐसी सेवा का क्या अर्थ है?

दूसरी बात यह है कि कोई व्यक्ति समाजकल्याण की प्रवृत्ति करे, लेकिन उसके साथ अपना स्वार्थ, अपनी बड़प्पन पाने, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा न हो, अपना चारित्र-दोष दबाकर जनता की नजरों में धर्मात्मा, दयालु या सेवाभावी बनने की कल्पना न हो, अथवा सेवा, दया आदि के साथ अपना चारित्रिक पतन न करे, किसी सत्ताधीश या धनाढ्य के मुलाहिजे में आकर उनकी चाटुकारिता करके उच्च पद या प्रतिष्ठा पाने के लिए लोकसेवा या राष्ट्रसेवा न करे या लोकसेवा के नाम पर अपना उल्लू न सीधा करे, धन न बटोरे। ये कुछ सीमाएँ हैं, प्रवृत्ति के साथ-साथ जिनका ध्यान रखना जरूरी है।

मान लीजिए, एक राष्ट्रसेवक दीन-दुःखी या राष्ट्र के किसी पदाधिकारी की सेवा कर रहा है, उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ ऐसी बातें जरूरी हो रही हैं, जिनमें चारित्रिक पतन की या किसी कुव्यसन में गिरने की सम्भावना है, ऐसी स्थिति में कुछ राष्ट्र या उनकी संस्कृतियाँ तो वैसा करने के लिए सहमत हो जाती हैं, जैसे कि जापान में जासूसी करने और दूसरे राष्ट्रों का भेद लेने के लिए दूसरे राष्ट्र के लोगों के पास ऐसी महिलाएँ भेजी जाती थीं, जो उनके साथ अपने शील का सौदा करके उनके देश की गुप्त बातें निकलवा लेती थीं। विदेश में कई जगह ऐसी प्रथा है कि मेहमान को प्रसन्न करने के लिए गृहिणियाँ उसके साथ ताश खेलती हैं और अनाचार-सेवन करने के लिए भी प्रवृत्त हो जाती है। किन्तु जैनधर्म इस बात से जरा भी सहमत नहीं है कि आप किसी शुभ अहिंसक प्रवृत्ति के साथ इस प्रकार की हिंसा, असत्य या कुशील-सेवन की प्रवृत्ति करें। फिर तो वह सारी ही शुभप्रवृत्ति अशुद्ध और भावहिंसायुक्त हो जाएगी।

इसीलिए तो जैनधर्म क्रियात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति करने से पहले निषेधात्मक अहिंसा के स्वीकार की बात कहता है। वह कहता है कि प्रवृत्ति

तो करो, पर पहले अपने दोषों से निवृत्ति करके करो। आपका कर्त्तव्य है कि आप समाज या राष्ट्र की सेवा करें, दीन-दुःखियों पर करुणा करें, जीव-दया के कार्य करें, दूसरों के कल्याण के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का बलिदान करें, अपने अधिकार की वस्तुओं को भी समर्पित कर दें, स्वयं भूख-प्यास और नींद का कष्ट सहकर भी प्रसन्न रहें, परन्तु उस सेवा, करुणा, दया, परोपकार, दान या सहयोग के नाम पर अपना चरित्र न बेचें, अपने जीवन की उज्ज्वलता को दाँव पर न रखें, अपने जीवन को किसी दुर्व्यसन से ग्रस्त न बनाएँ, अपने चरित्र और जीवन को किसी भी मूल्य पर कलंकित न होने दें।

अपने चरित्र एवं जीवन को पवित्र व उज्ज्वल रखते हुए सेवा, करुणा आदि जो कुछ भी विधेयात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति की जाए, वह शुद्ध प्रवृत्ति होगी, निःस्वार्थ या निष्काम प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार की शुद्ध प्रवृत्ति ही समाज के एवं अपने कल्याण के लिए उपादेय होती है। प्रवृत्ति की सीमा के सम्बन्ध में जैनधर्म का यह स्पष्ट दृष्टिकोण है।

निवृत्ति की सीमा

इसी प्रकार जो निवृत्ति (निषेधात्मक अहिंसा) केवल निष्क्रियता पैदा करती हो, जो केवल अपने ही स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए या लोभ-वृत्ति से धारण की गई हो, वह निवृत्ति भी निरी आत्म-वंचना है, अशुद्ध निवृत्ति है।

कई एकान्त निवृत्तिवादियों का यह कहना है कि कोई व्यक्ति दुःखी या पीड़ित हो रहा है, तो वह अपने ही कर्मों से हो रहा है। हमने उसको दुःखी या पीड़ित नहीं किया और न ही ऐसा संकल्प किया कि वह दुःखी या पीड़ित हो, ऐसी दशा में अगर हम तटस्थ रहते हैं तो हमें कौन-सी हिंसा या कौन-सा पाप लगेगा?

इस प्रश्न का समाधान तो जैनधर्म ने पहले ही कर दिया है, 'मित्ती मे सव्वभूएसु', 'अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए', तथा सेवा, दया, करुणा और मैत्री के ये पाठ जो प्रवृत्तिरूप हैं, वे किसलिए दिये हैं? क्या वे केवल तटस्थ रहने के लिए दिये गये हैं?

मान लीजिए, कोई जानवर आपके सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय आप दिल को कठोर बनाकर बाहर से निवृत्ति भी कर लें, परन्तु ऐसे अवसर पर मन में उसे बचाने के संकल्प स्वाभाविक रूप से आया करते हैं। अगर आप उन शुभ संकल्पों को जबरन दबाते हैं या उनकी उपेक्षा

कर देते हैं, रक्षात्मक प्रवृत्ति नहीं करते हैं तो आपके हृदय में प्रादुर्भूत द[या]
कुचली जाती है। इस प्रकार अपनी आत्मा से ही अपनी आत्मा की ब[ड़ी]
बड़ी हिंसा हो जाती है। इस आत्महिंसा को रोकना और अपने आत्मा [को]
उससे बचाना बहुत ही आवश्यक है।

एक जगह एक आदमी किसी को मार रहा है या एक आदमी जिन्दगी
से ऊबकर स्वयं आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो रहा है, उसी समय दो
व्यक्ति वहाँ आ पहुँचते हैं। उनमें से एक तो तटस्थ होकर एक कोने में खड़ा-
खड़ा देखने लग जाता है और दूसरा उस मारने वाले या आत्महत्या करने
वाले को समझाता है, स्वयं बीच में पड़कर उसे बचाने के लिए, उसकी
रक्षा के लिए तत्पर होता है। अर्थात्—एक आदमी तटस्थ रहकर निवृत्ति
धारण कर लेता है, दूसरा तटस्थ न रहकर बचाने की प्रवृत्ति करता है,
आपकी अन्तरात्मा ऐसे अवसर पर किसको अहिंसक या अधिक लाभ वाला
कहेगी ?

मान लो, आप पर ही कोई ऐसा ही संकट आ पड़े तो आप तटस्थ
रहने वाले को ठीक समझेंगे या आपकी रक्षा के लिए तत्पर व्यक्ति को?
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः अन्तःकरण की आवाज ही अधिक प्रमाण-
भूत मानी जा सकती है। भगवान महावीर की दृष्टि में तो ऐसी दशा में
तटस्थ रहना कायरता का लक्षण है। यह स्पष्टतया निवृत्ति की भ्रान्ति है।

भगवान महावीर का तो स्पष्ट आदेश है कि यदि कोई साध्वी
नदी में डूब रही है, या कोई साधु दुर्घटनाग्रस्त होकर पानी में गिर पड़ा है तो
उस समय दूसरे साधु (जो तैरना जानते हों) तटस्थ होकर खड़े न रहें,
वे उक्त साध्वी या साधु को निकालें और सुरक्षित स्थान में ले जाएँ।[1]

यहाँ तटस्थवादी साधु यह कह सकता है कि मैंने न तो उक्त साधु या
साध्वी को पानी में धक्का दिया है, न उनके डूबने का संकल्प किया है, गिरने
वाला अपने कर्मवश गिर गया है, और डूबने लगा है, इसमें मेरा क्या अपराध
है ? यदि मैं पानी में कूदूँगा या तैरकर जाऊँगा तो उस हलचल से अनेक
जल-जन्तुओं तथा जल के आश्रित रहने वाले असंख्य त्रसजीवों की भी हिंसा
होगी, कई जन्तु भयभीत होंगे, कुचले जाएँगे। इससे तो अच्छा है, मैं तटस्थ
ही रहूँ।

मैंने पहले कहा था कि ऐसे मौके पर तटस्थ रहने वाला साधु अपने
अन्तःकरण में उठने वाली करुणा और अनुकम्पा को दबा देता है। दया के

1. बृहत्कल्पसूत्र ६/८

और दया से होने वाली असंख्यगुणी निर्जरा के उत्तम अवसर को वह हाथ से खो देता है। इसलिए स्पष्ट है कि वह घाटे में है। डूबते हुए साधु या साध्वी को बचाने के लिए जल में प्रवेश करने वाले उसके साथी साधु को शुभ संकल्प में लीन होने के कारण पुण्य-प्रकृति का बन्ध तो होता ही है, किन्तु अन्तःकरण में जो अनुकम्पा की लहरें उठती हैं, करुणा की अजस्र धारा फूटती हैं, दया-भाव में वह निमग्न हो जाता है, आत्मोपम्यभाव से विभोर हो उठता है तब वह पाप-कर्मों की असंख्य-असंख्यगुणी निर्जरा कर लेता है। जल में प्रवेश करने के कारण जलीय या जलाश्रित जीवों की हिंसा अवश्य हुई है; लेकिन वह हिंसा हुई है, संकल्पपूर्वक की नहीं गई है, उससे पापकर्म का बन्धन कम और पुण्यबंध अधिक हुआ है, क्योंकि पुण्य या पाप का बन्ध भावों पर निर्भर है। साधु या साध्वी को निकालने के शुभ उद्देश्य से जो साधु पानी में जाता है, वह जीवों को मारने या पीड़ा पहुँचाने की नीयत से नहीं गया, अपितु एक संयमी को बचाने की पवित्र भावना लेकर गया है। किसी को स्वतः हिंसा होने में और संकल्पपूर्वक हिंसा करने में बहुत अन्तर है। इस तरह हिंसा-अहिंसा की स्थूल क्रिया से कर्तव्य की भावना बहुत ऊँची है।

यही बात प्रमार्जन (सफाई), प्रतिलेखन, खान-पान, शयन, आदि जीवन की हर प्रवृत्ति के विषय में भी समझ लेनी चाहिए कि ये प्रवृत्तियाँ यतना और अप्रमाद के साथ शुभ उद्देश्य से की जाती हैं, तो उनमें अहिंसा का ही स्वर झंकृत होगा। जैनधर्म में अहिंसा के उत्कृष्ट साधक के लिए पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियों का विधान है। पाँच समितियाँ प्रवृत्तिरूप हैं और तीन गुप्तियाँ निवृत्तिरूप हैं। सामान्यरूप से अहिंसा के साधक को यह ध्यान रखना है कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रवृत्ति करे उस प्रवृत्ति के साथ अहिंसा के संकल्प को, दया की लहर को और आत्मौपम्य की भावना को जोड़ दे, उसकी प्रवृत्ति में एक नई चेतना, नया प्राण और नई जागृति आ जाएगी।

मानव-जीवन में निवृत्ति का भी महत्त्व है, पर है वह अमुक प्रसंग पर ही। जब भी मन में स्वार्थ, भोगाकांक्षा, लोभ, क्रोध और अहंकार के बादल उमड़-घुमड़कर आने लगें, तब निवृत्ति ही श्रेयस्कर है। जहाँ विधेयात्मक अहिंसारूप सेवा, परोपकार, करुणा, दया आदि का कार्य करने में अपने चरित्र और शील को दाँव पर लगाने का अवसर आए वहाँ उससे निवृत्ति धारण करना ही श्रेयस्कर है, किन्तु शुभकार्यों में–शुभभावों से प्रवृत्ति भी की जानी चाहिए।

वहम के शिकार हो गये और उन्होंने महामंत्री अभयकुमार को आदेश दिया कि सारे अन्तःपुर को जला दो, ताकि रानी चेलना और अन्य जो भी रानियाँ हैं, वे जलकर भस्म हो जाएँ।

एक निराधार वहम के कारण कितनी बड़ी उग्र हिंसा होने जा रही थी। लेकिन वात्सल्यमूर्ति भगवान महावीर को पता लगते ही उन्होंने सम्राट् को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन्! क्यों व्यर्थ के भ्रम-जाल में फँस रहे हो। चेटक महाराजा की सातों पुत्रियाँ पतिव्रता सती हैं। रानी चेलना का जीवन निष्कलंक है। वहम को दूर करो, सत्य को समझो। अविवेकी बनकर सहसा कोई कार्य करने से बाद में घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है।"

मगधसम्राट् सत्य समझ गये। उनका वहम दूर हो गया और एक भयंकर हिंसाकांड होते-होते बच गया।

क्या आवश्यकता थी, प्रभु महावीर को किसी के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने की? परन्तु उन्होंने करुणा लाकर वहम के चक्र को तोड़ा और राजकीय विग्रह के महा-भयंकर अनर्थ के शिकार होने से कितने ही लोगों को बचा लिया। इसके पीछे उनकी समाज-कल्याणकारी प्रबुद्ध सामाजिक चेतना ही थी। उनके पास एक ओर इतने बड़े धर्मसंघ का नेतृत्व था, उसके संरक्षण-संवर्द्धन की जिम्मेदारी थी, साथ ही दूसरी ओर, समाज के हर क्षेत्र और हर अंग का निरीक्षण, उसकी उलझनों का यथार्थ समाधान और भूलों का शोधन, पारस्परिक विग्रह एवं द्वन्द्वों का उपशमन, वहमों का निराकरण, ये सब विश्वजनहित की हजारों तरंगें उनके जीवन-महासमुद्र में लहराती हुई हम देखते हैं।

मैं समझती हूँ, भगवान महावीर के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति को, दूसरे शब्दों में निषेधात्मक और विधेयात्मक—दोनों प्रकार की अहिंसा के समावेश को समझने के लिए ये कतिपय उदाहरण काफी हैं।

भगवान महावीर ने सद्गृहस्थों को भी शुभ प्रवृत्तिरूप विधेयात्मक अहिंसा से कभी इन्कार नहीं किया है। उन्हें सामाजिक जीवन के लिए प्रेरणा दी है। 'अतिथिसंविभागव्रत' गृहस्थ का प्रवृत्ति प्रधान व्रत है, जो भगवान महावीर ने बताया है। साथ ही ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, संघधर्म आदि के रूप में समाज के प्रत्येक वर्ग का कर्तव्य-निर्देश भी स्पष्टरूप से किया है। अहिंसाव्रत के अतिचार भी यह ध्वनित करते हैं कि गृहस्थ श्रावक

प्रत्येक मनुष्य और पशु आदि के साथ अहिंसा का व्यवहार करे, स्वीकृत दायित्वों का सम्यक् प्रकार से निर्वाह करे।

इतने विस्तृत विवेचन से आप स्पष्टतः समझ गये होंगे कि अहिंसा केवल निवृत्ति में ही नहीं है, प्रवृत्ति में भी है।

जैनधर्म अहिंसा को दृष्टि में रखकर प्रवृत्ति का विधान करता है, उसके पीछे उसका दृष्टिकोण प्रवृत्ति का पूर्णतः परित्याग करना नहीं है, अपितु जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है। निवृत्तिरूप अहिंसा भविष्य में होने वाली प्रवृत्ति में हिंसा को रोकने के लिए है तथा प्रवृत्ति अहिंसा को गति देने वाली है। अहिंसा में निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समावेश है।

3

अहिंसा के विविध रूप-२

अहिंसा मानव-जीवन का सर्वोत्तम आभूषण है। यह आन्तरिक समताभाव पर आधारित है। अहिंसा इतना सार्वभौम और सर्वागव्यापी तत्व है कि यह मानव-जीवन में अनेक धाराओं में प्रवाहित होता है। मुख्यतः इसकी दो धाराएँ है—निषेधपरक और विधिपरक। पिछले प्रवचन में मैंने अहिंसा के इन दोनों रूपों को मानव-जीवन में अनिवार्य बताया है।

आज मैं विधेयात्मक अहिंसा के विविध रूपों के सम्बन्ध में अपने विचार आप लोगों के समक्ष रखूंगी। मैंने पिछले प्रवचन में यह बताया था कि विधेयात्मक अहिंसा के आचरण से पहले अहिंसा के साधक में निषेधात्मक अहिंसा का होना आवश्यक है अन्यथा, एकान्त विधेयात्मक अहिंसा के प्रवाह में बहकर अहिंसा का साधक अपने जीवन में कषाय, रागद्वेष, मोह, स्वार्थ आदि के रूप में दौड़धूप कर रही हिंसा से आँख-मिचौनी ही करता रहता है। किन्तु निषेधात्मक आचरण के साथ-साथ विधेयात्मक अहिंसा का आचरण हो तो उसका आत्मविकास भी होता है और अहिंसा भी तेजस्वी बनती है।

विधेयात्मक अहिंसा की पृष्ठभूमि

मनुष्य का जीवन 'स्व' और 'पर' इन दोनों खेमों में विभाजित है। मनुष्य 'स्व' को लेकर जीवन-यात्रा शुरू करता है। उस 'स्व' के घेरे में स्वयं को, तथा अपने परिवार को लेकर चलता है। 'स्व' की सुख-शान्ति, समृद्धि एवं सुरक्षा की बात वह सोचता है। 'पर' उसके लिए पराया है। बहुधा उसका अपना माना हुआ धर्मसम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र, प्रान्त आदि भी जब 'स्व' के दायरे में आ जाता है, तब तो ठीक है अन्यथा ये भी उसके लिए 'पर' हो जाते हैं। वह 'पर' के लिए 'स्व' का बलिदान, त्याग या अर्पण करना तो दूर रहा, प्रत्युत 'स्व' के स्वार्थ, सुख-शान्ति एवं सुरक्षा के लिए 'पर' का बलिदान लेने से भी नहीं चूकता। बस, यहीं स्व-पर के संघर्ष की

जड़ हिंसा है, जो कभी राग, मोह और स्वार्थ को लेकर तो कभी द्वेष, ईर्ष्या, वैर, एवं क्रोधादि कषाय आदि को लेकर भड़कती रहती है। अधिकतर पीड़ाएँ इन्हीं 'स्व' और 'पर' की टक्कर से पैदा होती हैं।

अतः विधेयात्मक अहिंसा के पालन के लिए 'स्व' को ही विस्तृत बनाने की आवश्यकता है। अगर अहिंसा का साधक सारे विश्व को 'स्व' में ही समा ले तो संघर्ष वहीं समाप्त हो जाए और अहिंसा का प्रादुर्भाव हो जाए। उस समय 'पर' की पीड़ाएँ, दुःख, कष्ट, विपत्तियाँ, 'स्व' की बन जाती हैं, और साधक 'स्व' के समान ही 'पर' की चिन्ता करने लगता है। जब तक मनुष्य 'पर' के चैतन्य को, 'पर' के सुख-दुःख को, 'पर' के संकटों को 'स्व' की तरह नहीं समझता, तब तक उसके हृदय से संघर्ष की भावनाएँ समाप्त नहीं होतीं, वे आए दिन विभिन्न रूपों में उभरती रहती हैं। तब तक वह दूसरे के जीवन की सुख-शान्ति, आनन्द और व्यवस्था में विघ्न डालता रहता है तथा उद्विग्नता पैदा करता रहता है।

वर्तमान काल में मनुष्य की क्षेत्रीय दूरी दिन-प्रतिदिन सिमटती जा रही है। पहले जहाँ वह छह महीनों में पहुँचता था, अब दिनों में पहुँचता है, और जहाँ दिनों में पहुँचता था, अब घंटों में पहुँचने लगा है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य की बाह्य दूरियाँ समाप्त कर दी हैं, समस्त व्यवधान हटा दिये है। यहाँ बैठा वह चन्द्रमा का चेहरा देख लेता है, वहाँ की खबर ले लेता है। वैज्ञानिक दृष्टि से १६ करोड़ मील दूरस्थ शुक्रग्रह तक पहुँचने की उसकी तैयारी है।

किन्तु मनुष्य बाहर से जितना व्यापक हुआ है, अन्तर् से उतना ही अधिक संकीर्ण हुआ है। उसके आत्मौपम्यभाव की परिधि अत्यन्त संकुचित होती जा रही है। वह प्रायः स्व-केन्द्रित होता जा रहा है। अपनी ही सुख-शान्ति और सुरक्षा की चिन्ता में मग्न रहकर दूसरों की सुख-शान्ति और सुरक्षा की बिलकुल उपेक्षा कर बैठा है। विश्व, देश, समाज और पड़ोस के सुख-दुःख की चिन्ता से मुक्त होकर उसने अपने 'स्व' की सीमा परिवार तक ही सीमित कर ली है। परन्तु यह निश्चित है कि अपने इस बौने रूप से वह न कभी महनीय बन सकता है, न आत्मविकास कर सकता है और न ही सुखानुभूति कर सकता है। अपनी संकुचित मनोवृत्तियों के कारण वह तनावग्रस्त और विक्षिप्त-सा रहता है। संकीर्णता के कारण उसकी मानस-ग्रन्थियाँ विशृंखलित एवं जड़ीभूत हो रही हैं। उसकी भावना अपने आप में ही इतनी अधिक उलझ गई है कि उसे स्वयं को ही उसने अन्दर अजब सी

कलह, राग-द्वेष-मोह, मनुष्य-मनुष्य के बीच धोखेबाजी, चालाकी, उद्दंडता अविनीतता, क्रूरता, नास्तिकता आदि दुर्गुण, बनावटी प्रेम की आड़ में पनप रहे स्वार्थ, मोह, लोभ आदि के ही परिणाम हैं। प्रेम का पुरस्कार तो स्वतः प्राप्त होता है। वह है—आत्मसंतोष, शान्ति, प्रसन्नता, जीवन में उत्साह आदि। अतः वास्तविक प्रेम तो मनुष्य की चेतना का विकास करके उसे विश्वचेतना में प्रतिष्ठित करता है।

प्रेम में आडम्बर, प्रवंचना अथवा छल-कपट या स्वार्थ का भाव न रहने से ही मनुष्य की जीवनगति स्वभावतः परमार्थ की ओर अग्रसर होती रहती है। बहुत से लोग दूसरों से प्रेम करते हैं किन्तु प्रायः स्वार्थवश करते हैं और इसी स्वार्थ भावना के कारण ही प्रेम अपनी दिव्य सिद्धियों के साथ फलीभूत नहीं हो पाता। अपने प्रति, अपने समाज, देश और संसार से प्रेम करिये, पर निःस्वार्थ और निष्कलंक भाव से। तभी यह शक्ति, शान्ति, सुख-वर्द्धन, विकास और पुष्टि का हेतु बनेगा।

यह बात दूसरी है कि उस सच्चे प्रेम का व्यवहार एक क्षेत्र में ही हो पाया हो, परन्तु जहाँ पर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए निःस्वार्थ त्याग, निर्लेप बलिदान की भावना दिखलाई दे, वहाँ पर ही प्रेम का अनुमान करना चाहिए। जिसमें दूसरों के लिए सब कुछ दे डालने की भावना हो, बदले में कुछ भी लेने की भावना न हो, वही प्रेम का निवास है।

प्रेम संसार का शाश्वत सत्य है। संसार में जो कुछ भी दिखलाई देता है, उसका सत्य के रूप में आभास होता है, पर वह सत्य नहीं, सत्य का भ्रम है। आप सोचते हैं—हमारा एक परिवार है, बच्चे हैं, पत्नी है, आप स्वयं हैं जमीन, जायदाद, धन, सम्पत्ति, मकान, दूकान आदि हैं। ये सब शाश्वत-सत्य-से प्रतिभासित होते हैं, पर क्या ये स्थायी सत्य हैं? परिवार आज है, जीवन की अवधि समाप्त होने पर सब कुछ स्वप्न हो जाता है। परिस्थिति-वश जमीन जायदाद बिक जाती है, धन सम्पत्ति सब स्वाहा हो जाती है, मकान आग लगकर भस्म हो जाता है। तब ऐसी परिवर्तनशील चीजों को सत्य कैसे माना जाए? सत्य तो वह है, जो तीनों काल में एक जैसा बना रहे। प्रेम ही ऐसा सत्य है, जो अपरिवर्तनशील और त्रिकाल स्थायी बना रह सकता है। प्रेम पात्र के बिछुड़ जाने पर भी उसके प्रति रहने वाला प्रेम नहीं मरता, वह यथावत् बना रहता है। अतः प्रेम ही संसार का स्थायी सत्य है।

प्रेम की श्रेणियाँ

प्रकृति का एक नियम है कि दो वस्तुओं में जितनी दूरी अधिक होगी, उतना ही आकर्षण कम होगा। इसके विपरीत दूरी जितनी कम होगी, आकर्षण उतना ही अधिक बढ़ता चला जाएगा।

मानव-मानव के बीच भी प्रकृति का यह नियम काम करता है। मनुष्य पड़ोसी के दुःख का साथी अवश्य होता है, समय आने पर उसकी सेवा और सहायता भी करता है, पर मूल में एक स्वार्थ भरा रहता है कि इसके साथ ऐसा इसलिए कर रहे हैं कि कभी हमें भी बदले में इससे सहयोग मिलेगा। इस विनिमय वाले व्यवहार में आकर्षण और प्रेम तो होता है, पर न के बराबर।

अपने चाचा, मामा, भाई आदि के प्रति कर्तव्य-पालन में अपेक्षाकृत अधिक प्रेम और आकर्षण का अनुभव होता है, किन्तु जो प्रेम अपने पुत्र या पुत्री के लिए हो सकता है, वह इनमें से किसी के प्रति भी प्रायः नहीं होता। इस प्रेम की घनिष्ठता का कारण है—दूरी का अभाव। क्योंकि यह लोक मान्यता है कि 'पुत्र तो मेरा प्राण है, मेरे शरीर से समुत्पन्न सत्ता है। उसके लिए तो जरूरत पड़ने पर व्यक्ति प्राकृतिक नियमों का भी उल्लंघन कर देता है। बीमार होने पर कई-कई रात जागकर बिता देता है। दूसरे के लिए ऐसा त्याग कष्टप्रद लगता है। किन्तु प्रेम में वहाँ दुःख सुख का मालूम होता है।

इस प्रकार का सब प्रेम 'तस्यैवाहं' मैं उसी का हूँ—की सीमा के अंदर आता है। उसमें प्रेम का, आकर्षण का भाव तो है, पर वह पर्दे में है। उससे अपनापन, अपना स्वार्थ जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। यह प्रेम का प्रथम प्रकार अथवा श्रेणी है।

दूसरे प्रकार का प्रेम है—'तवैवाऽहम्' मैं तेरा ही हूँ। ऐसा प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का बोध कराता है। आप अनुभव करते हैं कि आप अपने आप में अपूर्ण हैं। इस अपूर्णता को जब तक भरा नहीं जाता, तब तक सन्तोष नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती, प्रसन्नता नहीं होती। संसार में सर्वत्र स्वार्थ ही स्वार्थ सिद्ध करके मनुष्य जिंदा नहीं रह सकता। उसे अपने स्वार्थ को जब कहीं न कहीं प्रतिरोपित करने का अवसर मिलता है, तभी उसे कुछ सन्तोष मिलता है। ऐसा प्रेम गृहस्थ जीवन में पत्नी से, साधु जीवन में गुरु से होता है। दोनों का रुधिरगत सम्बन्ध न होते हुए भी समर्पण का भाव दोनों की दूरी को इतना कम कर देता है कि दोनों को एक दूसरे के देखे बिना चैन नहीं पड़ता और वियोग तो असह्य हो उठता है।

भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण से पहले अपने प्रति अनुराग गौतम के इसी प्रेम (प्रशस्त राग) को मिटाने के लिए उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने हेतु अन्यत्र भेज दिया था। जब भगवान महावीर के निर्वाण का गौतम को पता लगा तो उनके लिए गुरुदेव भगवान महावीर का वियोग असह्य हो उठा। वे विलाप करने लगे। किन्तु बाद में वियोग का रहस्य समझकर ज्ञानबल से शोक निवारण किया, प्रकृतिस्थ हुए, भगवान महावीर के प्रति वास्तविक निर्मल निर्मोह प्रेम पैदा हुआ, वे उनके बताए सिद्धान्तों पर चलने लगे। इस आकर्षणमय समर्पण-प्रेम में गुरु-भक्ति का तत्व तो अधिक है लेकिन परमात्मतत्त्व से दूर है, अतः इसमें भी साधक दूर ही रहता है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य के बीच भी मोह ग्रन्थि हो जाने से मनुष्य इधर-उधर भटक जाता है, पाता कुछ नहीं। मोह ग्रन्थि के कारण ही वह शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं कर पाता।

इससे भी, आगे बढ़कर प्रेम के विराग की तीसरी और अन्तिम भूमिका है—'त्वमेवाऽहम्' तू ही मैं हूँ। मैं और मेरे के घेरे में स्थूलता का एक पर्दा जो चढ़ा हुआ है, उसी के कारण चेतना के स्वतंत्र अस्तित्व का भान नहीं होता। जो प्रेम लौकिक अर्थों में होता है, उसमें भी भावनाओं के समर्पण के अलावा कुछ भी नहीं दिखाई देता। यदि हमारे अन्तःकरण का प्रेम अपने स्वार्थ की सीमा तोड़कर 'तू ही तू है' (तत्त्वमसि) के दर्शन अर्थात् आत्म-तत्त्व के दर्शन करने लगे तो फिर अपना-पराया कुछ भी नहीं रहता, सर्वत्र भगवान के, परमात्मतत्त्व के एवं निज आत्मतत्त्व के दर्शन किये जा सकते हैं। प्रभु के प्रति विराट् प्रेम की झांकी ऐसा प्रेमतत्त्व करा सकता है।

प्रेम का प्रारम्भ अपने आप से करके अपने पड़ोसी, अपने स्वजन-सम्बन्धी, ग्राम, नगर, प्रदेश, देश, और विश्व के मानव मात्र में प्रेम का प्रतिरोपण किया जाय। फिर उससे भी आगे बढ़कर सृष्टि के इतर प्राणियों—पशु-पक्षियों तथा वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि स्थावर जीवों तक से प्रेमभाव की घनिष्टता स्थापित करके मानव अपनी प्रसुप्त आत्मशक्तियों का विकास कर सकता है। इस प्रकार विकसित आत्मशक्ति से विश्वप्रेम की अनुभूति, विश्वात्मा का साक्षात्कार एवं पूर्णानन्द की प्राप्ति सम्भव है।

ऐसा प्रेम वाणी और हृदय को पवित्र करने वाली सर्वव्यापी सत्ता है। उसमें सच्चाई होती है, आदर्श होते हैं, सत्य के प्रति आग्रह होते हैं, आकर्षण होते हैं, और होती है—हृदय की विशालता, जो न केवल अपने प्रेमी के लिए . . . होती है, बल्कि सम्पूर्ण चेतना में ही उसे दिव्य रस की अनुभूति

कराने लगती है। उसके हृदय में राग-द्वेष, मोह, घृणा आदि कलुषताएँ ऐसे प्रेम से घुल जाती हैं। दुर्वासनाओं पर नियंत्रण करके ऐसा प्रेम चित्त को निर्मल बना देता है।

जो प्रेम अन्तःकरण में स्वार्थ और द्वेष आदि दुर्गुणों को बढ़ा दे, वह प्रेम नहीं, प्रेम का भुलावा है। प्रेम जीवन की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में भी शुष्कता उत्पन्न नहीं करता। वह जहाँ भी, जैसी भी स्थिति में रहता है, मस्ती का अनुभव कराता है। वह अपनी कष्ट-सहिष्णुता प्रगट करता है; ऐसा प्रेमी प्राणों की कोई परवाह नहीं करता है। वह साहसी, कर्मनिष्ठ, धीर और गुणवान होता है।

ऐसा प्रेम केवल जीवित वस्तुओं के प्रति ही होता हो, ऐसी बात नहीं; किसी भी निर्जीव सत्ता (राष्ट्र, प्रान्त, विश्व आदि) या किसी भी आदर्श, सिद्धान्त या धर्म के प्रति भी हो सकता है।

इसलिए प्रेम अन्तःकरण की ऐसी उपज है, जो शुष्क से शुष्क, कठोर से कठोर और दिशाभ्रान्त जीवन को सरस, सरल और स्निग्ध बना देती है। प्रेम से मधुर संसार में और कुछ नहीं। जैसे पानी दूध में घुल-मिलकर स्वयं दूध बन जाता है, अपने अस्तित्व—नाम-रूप को मिटा देता है, वैसे ही प्रेम-परायण व्यक्ति प्रेमपात्र में घुल-मिल जाता है, अपने अस्तित्व तक को मिटा देता है, तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

परमात्मा के प्रति प्रेम

परमात्मा के प्रति सच्चे हृदय से प्रेम को भक्ति कहा जाता है। किन्तु परमात्मा से किसी भी लौकिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए कुछ भी माँगना प्रभु-प्रेम या प्रभु-भक्ति नहीं है। जो प्राणी मात्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है, वही ईश्वर के प्रति प्रेमी है। एकांगी उपासना का क्षेत्र विकसित करके अपना अहंकार बढ़ाने वाले व्यक्ति परमात्मा के सच्चे भक्त (प्रेमी) नहीं कहे जा सकते। परमात्मा की भक्ति करने वाला अपनी ही स्वार्थसिद्धि या आकांक्षा पूर्ति करने वाला नहीं होता। परमात्मप्रेमी भक्त के लक्षण गीता में बताये गये हैं—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः सम-दुःखसुखः क्षमी॥
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धियों मद्भक्तः स मे प्रियः॥

—जो किसी से द्वेषभाव नहीं रखता, सभी प्राणियों के साथ मित्रता रखता है, करुणा का व्यवहार करता है, ममत्वरहित है, अहंकारशून्य है, दुःख और सुख में एक-सा रहता है, क्षमावान है, सदैव सन्तुष्ट रहता है। जो सदा योगी, इन्द्रियसंयमी, दृढ़निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझे समर्पित कर दिया है, वही भक्त मुझे प्रिय है।

गीता के अनुसार इस प्रकार का विश्व-प्रेम करने वाला ही ईश्वर का प्रेमी होता है। जैन दृष्टि से कहें तो जो व्यक्ति वीतराग प्रभु की आज्ञा की आराधना करता है, 'अप्पाणं वोसिरामि' करके सावद्य योगों का परित्याग करता है और परमात्मा के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देता है, यह परमात्मा से प्रेम करने वाला प्रेमी भक्त है। परमात्मा की आज्ञा है—अपनी-अपनी भूमिका में रहते हुए अपने-अपने धर्म का निरतिचार पालन करना।

प्रेम को अपने ही बालकों, स्त्री, परिवार, गाँव, नगर, जाति, समाज या राष्ट्र तक ही सीमित कर देना और दूसरों के बालकों, स्त्री, परिवार, ग्राम, नगर, जाति, समाज, व्यक्ति या राष्ट्र के प्रति घृणा, द्वेष, वैर-विरोध करना विश्वप्रेम नहीं है; और न परमात्मप्रेम ही है। किसी के साथ ईर्ष्या, द्वेष, छल, पाखंड, अन्याय, अत्याचार करके परमात्मा की कृपा प्राप्त करने की बात सोचना भी मिथ्या है। परमात्मा की उपासना के साथ संसार के प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता, सहानुभूति एवं सब की उन्नति में सहयोग का भाव भी होना चाहिए।

बहुधा देखा जाता है कि लोग अपने प्रेमास्पद प्रभु के लिए आँसू बहाते हैं, अपने आराध्य के सम्मुख बैठकर विलाप करते हैं, याचना करते हैं कि उन्हें शरीर के कारागार से मुक्त करके अपने अभीष्ट प्रेमी अर्थात् प्रेमास्पद प्रभु के साथ एकरूप कर दिया जाय। इस प्रकार की उनकी व्याकुलता देखकर उनके भक्त या प्रेमी होने का अनुमान लगा लिया जाता है। लेकिन वे ही व्यक्ति जब अपने आस-पास के दुःखी और क्लान्त मनुष्यों को देखकर मौन और उदासीन रहते हैं; किसी पीड़ित को देखकर दया, संवेदना अथवा करुणा से द्रवित नहीं होते, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे परमात्मा के भक्त या प्रेमी नहीं, अपितु प्रेम का प्रदर्शन करने वाले ढोंगी हैं। प्रेमतत्त्व से ओतप्रोत व्यक्ति का हृदय करुणा, दया, क्षमा आदि से अवश्य ही सराबोर होता है।

परमात्मा के प्रति जिसके हृदय में प्रेम की ज्योति जग जाती है, वह

परमात्मा से किसी भी सांसारिक वस्तु या स्वार्थसिद्धि की याचना नहीं करता। वह धन-धान्य, राज्य, परिवार, जमीन, जायदाद, सिंहासन, पद आदि सर्वस्व तिनके के समान त्याग देता है; क्योंकि प्रेम अमूल्य व निःस्वार्थ वस्तु है, उसका कोई मूल्य नहीं है। प्रेम के समक्ष संसार की सारी सम्पदाएँ, विभूतियाँ, सुख-सामग्री, सुविधाएँ आदि तुच्छ हैं। प्रेमीजन अपने प्रेमपात्र प्रभु के प्रेम में मग्न होकर हँसते-हँसते शीश दान तक कर देते हैं।

भक्त प्रह्लाद को उसकी परमात्मा के प्रति प्रेम एवं भक्ति से डिगाने के लिए हिरण्यकश्यप ने बहुत यातनाएँ दीं, उसकी कसौटी की गई। उसे आग में जलाने, पहाड़ से गिराने, मारने आदि के बहुत उपक्रम किये गये। उसने हँसते-हँसते सभी संकट सहे लेकिन न तो उसने हिरण्यकश्यप के प्रति द्वेष या वैर किया और न ही परमात्मा को कोसा कि ऐसे संकट के समय भी मेरी रक्षा क्यों नहीं की?

इसी प्रकार गजसुकुमार मुनि ने वीतराग परमात्मा की आज्ञा की सम्यक् आराधना करके अपना परमात्म-प्रेम सिद्ध किया। वे परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के प्रति प्रेम में इतने निमग्न हो गये कि उनकी देहासक्ति तथा सांसारिक पदार्थों के प्रति आकांक्षा बिलकुल ही समाप्त हो गई। यहाँ तक कि सोमिल ब्राह्मण से जब कायोत्सर्ग में स्थित गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बाँधकर धधकते हुए खैर के अंगारे रखे, उस समय अग्नि से तन जलने की असह्य पीड़ा से भी वे विचलित नहीं हुए, न उन्होंने वीतराग प्रभु को कोसा, और न सोमिल ब्राह्मण के प्रति मन में वे द्वेषादि दुर्भाव लाए। इस कारण कुछ ही समय में शुद्धात्मा के अखण्ड ध्यान से शरीर का ममत्व छोड़कर वे स्वयं परमात्मा बन गये—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये।

इसी प्रकार अर्हन्नक श्रमणोपासक, सुदर्शन श्रमणोपासक आदि के परमात्म-प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण हमारे समक्ष हैं। अर्हन्नक की तो एक देव ने भयंकर रूप बनाकर डरा-धमकाकर परीक्षा ली थी, लेकिन वे परमात्म-प्रेम से तनिक भी विचलित न हुए।

भगवान महावीर के प्रति अनन्य प्रेम की ऐसी ही कसौटी सुदर्शन श्रमणोपासक की हुई। राजगृही में अर्जुन माली का घोर आतंक होते हुए भी वह भगवान महावीर के दर्शनार्थ निश्चल एवं निर्भय भाव से घर से चल पड़ा। मार्ग में अर्जुन माली ने मुद्गर घुमाते हुए उस पर प्रहार करना चाहा, लेकिन सुदर्शन की सुदृढ़ परमात्म-प्रीति एवं वीतराग-भक्ति के कारण वह वहीं ठिठक गया। सुदर्शन श्रमणोपासक ने परमात्म-प्रेम के लिए अपने

शरीर, अपनी आकांक्षाओं, १८ पापस्थान, आहार एवं समस्त सुख-सामग्री को उत्सर्ग करने का संकल्प कर लिया था, बशर्ते कि उसका शरीर इस संकट से छूट जाय।

परमात्म-दशा को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक अहिंसा-प्रेमी को प्रेम की उपासना करनी होगी। भगवान का रूप प्रेम में जीवित रहता है और प्रेम में ही विराजता है। प्रेम की साधना किये बिना कोई उसे पा नहीं सकता। परिवार से लेकर विश्व के प्राणिमात्र तक उतना ही निकट घनिष्ट प्रेम करना पड़ेगा जितना आप प्रेममूर्ति परमात्मा से करते हैं।

इसीलिए प्रेम के मसीहा ईसामसीह ने कहा था—प्रेम ही परमात्मा है। हमें एक दूसरे को प्रेम करना चाहिए। ईश्वर को वही जानता है, जो प्रेम करता है।

महात्मा ईसा प्रेम के भण्डार थे। वे सारे मनुष्यों को अपने अन्तरात्मा की गहराई से प्रेम करते थे। महात्मा ईसा पर बहुत अधिक अत्याचार किया गया था, तथापि उनके मन में किसी प्रकार के द्वेष, वैर, क्रोध या बदला लेने (प्रतिशोध) की भावना नहीं आई। ईसामसीह ने जिस मनुष्य-जाति का हित चाहा, जिसकी भलाई के लिए अपना सारा जीवन लगा दिया, उन्ही मनुष्यों ने उन्हें क्रूस पर लटका दिया। हाथों में कीलें ठोक दीं। उन्हें विविध प्रकार से शारीरिक यन्त्रणाएँ दीं। कोड़ों से मारा। पत्थरों की वर्षा की। पर प्रेम के देवता ईसामसीह ने किसी पर क्रोध तक नहीं किया। प्रेम के प्रसाद के रूप में उन्हें हृदय में शीतलता प्राप्त हुई। लोग उन्हें क्रॉस पर टांगकर कीलें ठोक रहे थे और वे कातर स्वर में परमात्मा से यह प्रार्थना कर रहे थे—हे परम पिता! इन अबोध लोगों को क्षमा कर देना क्योंकि ये नहीं जानते कि वे क्या कर रहे है।

विश्व-प्रेम के अवतार भगवान महावीर जिस समय साधना-काल में विचरण कर रहे थे, उस समय कुछ धर्मविद्वेषी, अनार्य लोगों ने उन पर पत्थर मारे, उन पर शिकारी कुत्ते छोड़े, उन्हें ठहरने को स्थान न दिया, सांप-बिच्छू आदि जहरीले जन्तु छोड़े गए, उनके कानों में कीलें ठोकी गईं, उनके पैरों पर खीर पकाई गई। ये और इस प्रकार के अन्य अत्याचारों को उन्होंने समभाव से सहन किया। उन्होंने न तो किसी पर क्रोध या द्वेष किया और न किसी से प्रतिशोध लेने का विचार ही मन में किया। बल्कि वे विश्व-प्रेम में मग्न होकर सच्चे हृदय से मानव-जाति और प्राणिमात्र का हित चाहते और करते रहे।

सच्चे प्रेमी पर उसकी परीक्षा के लिए एक नहीं, सैकड़ों संकट आते हैं। जो उन संकटों को हँसता हुआ सहता और अविचलित रूप से प्रेम के निर्दिष्ट पथ पर चलता रहता है, वही वस्तुतः सच्चा प्रेमी होता है।

प्रेम दीवानी मीरा ने श्रीकृष्ण से प्रेम किया। उसके लिये पति तथा परिवार का कोप रहा। लोकापवाद की यातनाएँ सहन कीं। अपने चरित्र पर लगाये गये लांछन भी सहे। पर अपना प्रेम न छोड़ा। उसे राजरानी के पद से च्युत कर दिया गया। घर से निकाल दिया गया। जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। पर वह अपने प्रेम के पवित्र मार्ग पर चलती ही रही। मीरा को यमुना में फेंका गया, परन्तु यमुना की सांवली धारा उसे कन्हैया की गोद लगी। पिटारी में उसके पास साँप भेजा गया; परन्तु वह सांप उसे शालिग्राम के स्वरूप में दिखाई दिया। हलाहल विष का प्याला पीने को भेजा गया, परन्तु उसके श्याम रंग में उस कृष्ण-प्रेम की दीवानी को साक्षात श्यामसुन्दर के ही दर्शन हो गए। इतनी कठोर अग्नि-परीक्षा होने के बावजूद भी मीरा का असंदिग्ध प्रेम घटने या विचलित होने के बजाय निरन्तर वृद्धिगत और सुदृढ़ होता गया। मीरा के लिए संसार का कण-कण उसके प्रियतम श्रीकृष्ण का प्रतिबिम्ब ही बन गया और वह स्वयं भी श्यामरूप होकर श्यामसुन्दर में विलीन हो गई।

परमात्मा के प्रेम का अमृत समुद्र की तरह अथाह और गहरा है। सामान्य मनुष्य के प्रति प्रेम-भाव से भी जब मनुष्य को थोड़ी देर के तृप्ति मिलती है तो प्रेम के अगाध सागर परमात्मा से प्रेम करने पर तो ऐसी तृप्ति प्राप्त होती है जो कभी समाप्त ही नहीं होती। वहाँ किसी प्रकार के भटकने की संभावना भी नहीं रहती। वह तो प्रेम का निरन्तर बहने वाला झरना है, जो कभी सूखता ही नहीं। वस्तुतः प्रेम परमात्म-प्राप्ति की साधना की कसौटी है जिसमें तपकर जीव विशुद्ध बनता है और स्वयं परमात्मा बनने की स्थिति प्राप्त करता है। जीव और शुद्ध आत्मा रूप परमात्मा के बीच जो तादात्म्य है, वह निश्छल तथा विशुद्ध प्रेम द्वारा ही प्रगट होता है। प्रेम न होता तो लोगों को इस पृथ्वी पर आध्यात्मिक तत्वों की अनुभूति भी न होती। परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति या शुद्धात्मस्वरूपरमण के लिए तप, त्याग, इच्छाओं का दमन करके अन्तःकरण से शुद्ध प्रेम का अभ्यास करना पड़ता है तभी ईश्वर-प्रेम जागृत होता है।

कई लोग ईश्वर-प्रेम के नाम पर कर्त्तव्य से विमुख हो जाते हैं, अथवा किसी पदार्थ या शारीरिक वासना (तथाकथित प्रेम) में इतने आसक्त

हो जाते हैं कि प्रेम की व्यापकता और अक्षुण्ण सौन्दर्य गुण का उन्हें भान ही नहीं होता। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर-प्रेम में स्वार्थ, वासना या किसी पदार्थ की आसक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है।

उपनिषद् में परमात्मा को 'मधुब्रह्म' कहा है। उसका अर्थ यह है कि परमात्मा का स्वरूप मधुर विशुद्ध प्रेममय है। 'मधु क्षरति तद् ब्रह्म' जिसके द्वारा प्रेम झरता है, वही ब्रह्म है। सन्त इमर्सन की वाणी है—"परमात्मा का सारतत्त्व प्रेम है।" सन्त टेरेसा नामक पाश्चात्य साधिका ने लिखा है—"परमात्मा के प्रति प्रेम होना है, तभी सच्ची उपासना बन पड़ती है।—इस साधना से अन्त में न जीव रहता है, न परमात्मा; केवल प्रेम ही शेष रह जाता है।" मुसलमानों में सूफी संतों की प्रेममयी भक्तिधारा प्रसिद्ध है। वे परमात्मा को प्रियतम (माशूक) और जीवात्मा को प्रेमी (आशिक) के रूप में मानते हैं।

अतः आपका प्रयत्न यह होना चाहिए कि परमात्मा से शुद्ध प्रेम के लिए अपनी आत्मा के प्रति, अपने बालकों, स्त्री, घर, गांव, समाज, राष्ट्र और समग्र मानव-जाति के प्रति निस्वार्थ प्रेम विकसित करें। यथाशक्ति इनकी सेवा और त्यागभावना द्वारा निष्काम प्रेम, वासना-कामना-रहित प्रेम बढ़ाएँ। इस विकास के मार्ग पर जितना आपका अहंभाव नष्ट होता जाएगा, उतना ही आप परमात्मा के निकट पहुँचते जाएँगे, उच्च गुणस्थान पर आरूढ़ होते जाएँगे।

प्रेम आत्मा का विषय है, शरीर का नहीं। इसलिए भोग-वासना के आकर्षण को प्रेम मान बैठना भ्रम है। सच्चे और आत्मिक प्रेम में भोग-वासना, आसक्ति, मोह, संयोग, वियोग, पीड़ा-कसक, दुःख-शोक, प्रतिदान की भावना आदि होते ही नहीं। शुद्ध आत्मा की तरह वह तो निर्विकार होता है। आत्मिक प्रेम का धनी व्यक्ति अपने प्रेमास्पद को संयोग या वियोग दोनों ही अवस्थाओं में निरन्तर अपनी आत्मा में ही पाता है।

गोस्वामी तुलसीदास को उनकी पत्नी रत्नावली प्रति मोहजनित प्रेम ने ही आगे बढ़ाया था और शुद्ध प्रेम जागृत करके राम के रूप में भगवान का अनन्य प्रेमी बना दिया था। सूरदास तब विल्वमंगल कहलाते थे, चिन्तामणि वेश्या के निश्छल प्रेम ने ही उनकी आत्मा को झंकृत कर दिया था।

प्रेम अध्यात्म की पहली सीढ़ी है। उस पर चढ़कर ही व्यक्ति निराकार, निरंजन परमात्मा में विश्वास और चिरसुख की अनुभूति करता है। प्रेम का अभ्यास जिसने जीवन में न किया हो, ऐसा एक भी अध्यात्म-

वादी व्यक्ति शायद ही कहीं मिलेगा। साधारणतया सांसरिक या कामना-मूलक प्रेम ही ईश्वर-भक्ति में परिणत होता है।

आचार्य रामानुज के पास एक गृहस्थ आया, और कहने लगा—"मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। अब मुझे आप अपनी शरण में ले लें और परमात्म-प्रेम की आराधना कराएँ।"

रामानुजाचार्य ने उससे पूछा—"वत्स! पहले यह तो बताओ कि इस संसार में तुम्हारा किसी से प्रेम है?"

"संसार में किसी से प्रेम कैसे होता? भाई-बहन, माता-पिता, कुटुम्ब, परिवार वाले सब स्वार्थी है। उनके प्रति प्रेम कैसे होता? मुझे तो इन सबसे विरक्ति हो गई है। इसीलिए तो आपके पास प्रभु-प्रेम की दीक्षा लेने आया हूँ।" आगन्तुक ने कहा।

रामानुजाचार्य बोले—"तब मैं तुम्हें प्रभु-प्रेम की दीक्षा नहीं दे सकता, क्योंकि तुममें प्रेम की एक बूंद भी नहीं है। यदि किसी के प्रति जरा सा भी प्रेम होता तो मैं उसे परिष्कृत और विस्तृत कर देता। जाओ, तुम अभी संन्यास के योग्य नहीं बने। अभी बदले की अपेक्षा किये बिना निःस्वार्थ प्रेम की साधना करो। उस प्रेम के बिन्दु से ही प्रेमसिन्धु परमात्मा को पाने का मार्ग प्रशस्त होगा।"

यह है कि प्रेम के बिन्दु से सिन्धु की साधना का रहस्य। प्रेम की परिधि सीमित नहीं है और न ही उसका कोई एक ही प्रकार है। प्रेम प्रेम है, फिर वह नारी के प्रति हो, पुत्र के प्रति हो, बहन-भाई या माता-पिता के प्रति हो, या समाज, राष्ट्र या विश्व के प्रति हो, पर हो वह निःस्वार्थ या कामनारहित। उसका परिपाक आध्यात्मिक प्रेम में हो सकता है। शर्त केवल एक ही है—प्रेम जिससे किया जाए, वह पूरे मन से, प्राणों से किया जाए, उसमें न तो कोई स्वार्थ हो, न छलछिद्र हो। सच्चा और निश्छल प्रेम अन्त में परमात्मभक्ति का रूप बन जाता है। शीरीं-फरहाद, सोनी-माहीवाल, तुलसी आदि का प्रेम यद्यपि प्रारम्भ में नारी के प्रति लौकिक प्रेम (मोह) के रूप में हुआ, पर तुलसी के उसी प्रेम ने प्रेरणा पाकर नया मोड़ लिया, अन्त में वह आध्यात्मिक प्रेम में बदल गया। उनका लौकिक प्रेम पारलौकिक बन गया।

दशरथ का पुत्र-प्रेम, राम और भरत का भ्रातृप्रेम, सीता का पति-प्रेम आदि सब उन्नत स्थिति का प्रेम बन गया। संयमराय, पन्नाधाय, भामाशाह, बाजीराव देशपाण्डे स्वामी के प्रति प्रेम के कारण महानता के अधिकारी बने। महात्मा गांधी, गोखले, तिलक, आदि का देशप्रेम उन्नत

स्थिति पर पहुँच गया था। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध आदि का प्रेम विश्वप्रेम बन गया।

वास्तव में प्रेम का भाव जब विस्तृत होने लगता है तो व्यक्तित्व भी भी उसी क्रम में परिष्कृत होने लगता है। इसके अनेक रूप समाज के साथ हमारे सम्बन्धों को प्रगाढ़ और मधुर बनाते हैं। अपने और अपनों के प्रति प्रेम से लेकर विश्व-प्रेम की ओर प्रगति करता हुआ प्रेम का साधक विराट् जगत् में फैली हुई आत्माओं से ऐक्य स्थापित कर सकता है।

पत्नी और बच्चों के प्रति लोग जो अनुभूति करते हैं, वह प्रायः प्रेम न होकर आसक्ति तथा मोह होता है। मोह में भी आत्मीयता का अंश कम नहीं होता; लेकिन उनकी वह आत्मीयता—स्वार्थ या अपनेपन की संकीर्णता के कारण आध्यात्मिकता स्तर की न होकर प्रायः सांसारिक स्तर की होती है। अपने बच्चों के प्रति प्रेम में उन पर प्राण निछावर करने वाले लोग बहुधा दूसरे के बच्चों को जरा भी नहीं चाहते। उनका साधारण-सा अपराध भी वे क्षमा नहीं कर पाते। यदि उनको अपने बच्चों से सच्चा और आत्मिक प्रेम होता तो निश्चय ही उन्हें दूसरे बच्चे भी अपने बच्चों के समान ही प्रिय होते। वे उनके लिए भी त्याग एवं उत्सर्ग करके वही सन्तोष पाते जो अपने बच्चों के प्रति करने में पाते हैं।

अतः प्रेम आत्मा का विषय है। आत्मिक क्षेत्र में अपना-पराया या तेरा-मेरा आदि की संकीर्णता नहीं होती।

प्रेम : जीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता

प्रेम जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। मनुष्य को ही नहीं संसार के सभी उद्बुद्ध चेतनाशील प्राणियों को, जब तक किसी से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसे जीवन में अभाव और अशान्ति महसूस होती है। प्रेम-प्राप्ति की भूख बाल्यावस्था में अधिक पाई जाती है। जिन बच्चों को मां-बाप का प्यार नहीं मिलता, उनका व्यक्तित्व पुष्ट नहीं होता, वे कई मानसिक रोगों के शिकार भी हो जाया करते हैं। चिन्ता, घृणा, चिड़चिड़ापन, क्रोध, हीनता की भावना आदि व्यक्तित्व को खंडित करने वाले दुर्गुण बहुत कुछ इसी कारण पैदा होते हैं। जो प्रेम को धारण नहीं करता, प्रायः वह दूसरों को प्रेम देने में हिचकिचाता है। इसलिए प्रेम-प्राप्ति की आकांक्षा सहज रूप से प्रेम-यज्ञ का प्रारम्भिक कृत्य है। जिसे कभी प्रेम नहीं मिला, वह दूसरों को भी शायद ही कुछ दे सके। प्रायः यह भी देखा जाता है कि जिसमें प्रेम तत्त्व की कमी होती है, वह मनुष्य क्रूर, कपटी, स्वार्थी और

शोषक बनकर अपने ही भाइयों को उत्पीड़ित करता है, वह परिवार और समाज को हानि पहुँचाता है। फलस्वरूप अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी नरक का निर्माण कर लेता है। प्रेम के अभाव में ही धन-सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा, सम्पन्न परिवार आदि सब कुछ होते हुए भी मनुष्य सुख-शान्ति के लिए तरसता है। प्रेम से शून्य मानव नीरस मरुस्थल के समान होता है, जिसके पास जाने पर दूसरा प्राणी भी अपनी सुख-शान्ति की प्यास बुझा नहीं सकता; बल्कि अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता भी खो बैठता है। हरे-भरे पत्तों से रहित वृक्ष के पास जाकर किसको छाया मिल सकती है? सूखा जलाशय किसकी प्यास बुझा सकता है?

हिंसक जन्तुओं और अपराधी व्यक्तियों से भरे जंगल में शस्त्र-अस्त्र से रहित होकर रहने वाले ऋषि-मुनियों या योगियों के पास रक्षा के साधनों में न तो शस्त्र-अस्त्र होते थे, और न सेना की शक्ति। फिर उन्हें खूंख्वार सिंह, चीते, बाघ, भालू, आदि हिंसक पशुओं से कौन-सी शक्ति बचाती थी? उनके पास तो प्रेम की ही शक्ति रहती थी जो सब शक्तियों का शिरमौर है और हिंस्र जानवरों पर भी प्रभाव डालती थी? वे भी उनके समीप पालतू पशु जैसे नम्र बन जाते थे। चोर-डाकू शत्रु न होते हुए भी दूसरों की सम्पत्ति हरण कर लेते हैं, किन्तु उनकी दुष्ट वृत्ति भी प्रेमामृत से शीतल हृदय वाले साधुमना पुरुषों के पास पहुँचकर बदल जाती है, और वे उनके प्रभाव से सज्जन बन जाते हैं। नारद मुनि के सम्पर्क में आकर डाकू रत्नाकर वाल्मीकि ऋषि बन गए, महात्मा बुद्ध के सम्पर्क में आकर अंगुलिमाल धर्मप्रचारक भिक्षु बन गया, भगवान महावीर के प्रेम के वशीभूत होकर चंडकौशिक सर्प भी विषमुक्त हो गया। स्वामी श्रद्धानन्दजी के प्रेम से सिंह ने भी हिंसक वृत्ति छोड़ दी।

प्रेम में मनुष्य की जीवन धारा बदल डालने की शक्ति होती है। जेकस बहुत ही धनाढ्य, अत्याचारी और दुराचारी था। सभी लोग उसके सम्पर्क में आने से कतराते थे। मगर विश्व-प्रेमी ईसामसीह एक बार अन्य श्रद्धालु लोगों के यहाँ न जाकर जेकस के यहाँ ठहरे। जेकस बहुत प्रसन्न हुआ। उसने ईसा की बड़ी आवभगत की। जब ईसा ने बड़े प्रेम से उसको जीवन बदलने का उपदेश दिया तो वह उनके प्रेम से अत्यन्त प्रभावित हो गया और उसने अपना दूषित जीवन एकदम बदल दिया। वह सदाचारी और सज्जन बन गया। एक समय की प्रसिद्ध वेश्या आम्रपाली, तथागत बुद्ध के विश्व-प्रेम से प्रभावित होकर सारा वैभव, भोग-विलास एवं दूषित कर्म छोड़कर महान भिक्षुणी बन गई।

सचमुच, प्रेम में महान् वशीकरण मन्त्र होता है। इससे शत्रु भी मित्र और घातक भी पालक बन जाते हैं। प्रेम के द्वारा सारे संसार को मनुष्य वश में कर सकता है।

बर्लिन की एक सर्कस कम्पनी में एक बाघ था, उसका नाम रखा गया था—नीरो। इस बाघ को नीरजिस के एक चिड़ियाघर से खरीदा गया था। जिन दिनों बाघ चिड़ियाघर में था, उसकी प्रीति चिड़ियाघर के एक नौकर से हो गई। बाघ उस मैत्री के कारण अपने हिंसक स्वभाव तक को भूल गया। बाद में वह बाघ क्लारा हलपिट नामक हिंसक जीवों की प्रशिक्षिका को सौंप दिया गया।

एक दिन बाघ प्रदर्शन से लौट रहा था, तभी एक निहत्था व्यक्ति आगे बढ़ा। बाघ ने उसे देखा और वह घेरा तोड़कर सहसा बाहर निकल आया। भयभीत दर्शक और सर्कस के सभी कर्मचारी इधर-उधर भागने लगे। परन्तु स्वयं क्लारा हलपिट यह देख कर दंग रह गई कि बाघ अपने उसी पुराने प्रेमी मित्र के पास पहुँचकर उसे चाट रहा है और प्रेम जता रहा है। उस मानव मित्र ने उसकी पीठ खूब थपथपाई, प्यार किया और कहा—अब जाओ, समय हो गया।

बाघ चाहता तो उसे खा जाता, भाग निकलता; पर प्रेम के बन्धनों में जकड़ा हुआ बाघ अपने मित्र की बात कैसे टाल सकता था? वह वापिस घेरे में आ गया।

लोग कहने लगे—सचमुच प्रेम ही शक्ति ऐसी है कि हिंसक को भी मृदु, शत्रु को भी मित्र और सन्ताप से तप्त संसार को हिमखण्डवत् शीतल बना सकती है।

प्रेम से शत्रु भी मित्र

संसार के धर्मों के इतिहास उठाकर देखिए तो आपको उसमें प्रेम के बल से सर्प, सिंह, बाघ, भेड़िया, बंदर, पक्षी, पशु आदि को वश में करने और अपना मित्र बना लेने के सैकड़ों उदाहरण मिल जाएंगे।

शस्त्र की शैतानियत से आप सब परिचित है। वह शत्रुओं को तो मारता ही है, आपको भी खत्म कर सकता है। दूर क्यों जाएं? पाकिस्तान का घटना चक्र आपकी आंखों के सामने गुजरा है। भारत से लड़ने के लिए उसने अमेरिका से शस्त्रास्त्र आदि युद्ध सामग्री खरीदी और इतनी खरीदी कि राष्ट्र का ६०-७० प्रतिशत धन इस मद पर फूंक दिया। परन्तु शस्त्रों की

वह बढ़ती हुई होड़ पाकिस्तान के लिए भस्मासुर का वरदान ही सिद्ध हुई। इसके विपरीत हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को शस्त्र-बल के बजाय प्रेम-बल पर ही अधिक विश्वास था। इसीलिए तो वे नोआखाली में हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय परस्पर भाईचारा और शान्ति स्थापित करने के लिए वहाँ जा पहुँचे। वे उन आदमियों के बीच निहत्थे होकर पहुँचे, जो मानवता के शत्रु थे, जिन्हें मनुष्य मात्र से घृणा हो चुकी थी। स्वयंसेवकों ने बापू से कुछ शस्त्र लेकर चलने का आग्रह किया तो उन्होंने दृढ़ शब्दों में कह दिया—"क्या तुम्हें मेरे प्रेम की शक्ति से भी बढ़कर बन्दूक और रिवाल्वर की शक्ति पर भरोसा है?" शस्त्रों की बात तो दूर रही, उन्होंने निहत्थे स्वयंसेवकों को भी आत्मरक्षा के लिए अपने साथ न लिया। उनके प्रेम की शक्ति ने ही नोआखाली में साम्प्रदायिकता की धधकती ज्वाला को शांत कर दिया।

प्रेम में अलौकिक शक्ति

प्रेम में एक प्रकार की अलौकिक शक्ति रहती है। उस शक्ति की तुलना बाहुबल, धनबल या बुद्धिबल से नहीं की जा सकती। जिस कार्य को बड़े से बड़ा सम्राट अपनी पूरी ताकत लगाकर नहीं कर सकता, उसे प्रेम-प्लावित संत सहज ही कर सकता है। जो द्वेष, विग्रह और संघर्ष वर्षों के सशस्त्र प्रयत्न द्वारा नहीं मिटाये जा सकते, वे प्रेमाधारित संधि द्वारा शीघ्र ही शांत किये जा सकते हैं। दो व्यक्ति या दो राष्ट्र जब मोह और भ्रम के कारण वर्षों तक संघर्ष में लगे रहने के बाद युद्ध की विभीषिका और निरर्थकता का अनुभव कर लेते हैं, तब प्रेमपूर्ण पारस्परिकता का सहारा लेकर समस्याओं का निपटारा करके शांति स्थापित कर लेते हैं।

प्रेम से हृदय परिवर्तन

प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही द्वेष, छल स्वार्थ, आशंका, भय आदि मिट जाते हैं, दृष्टिकोण बदल जाता है, संधि की संभावना होने लगती है। प्रेमाधारित संधियों में ही स्थायित्व होता है। प्रेम में हृदय परिवर्तन कर देने की क्षमता है। क्योंकि प्रेम स्वयं आत्मविश्वासी है, उसे इन्सान की इन्सानियत और प्रत्येक आत्मा के स्वाभाविक गुणों पर विश्वास होता है। कठोरता और अपराधी वृत्ति को समाप्त करने के लिए प्रेम के कोमल कर-स्पर्श की आवश्यकता होती है। आप स्वयं यह देखकर आश्चर्य करेंगे कि जहाँ उग्रता का भीषण अंधड़ चल रहा था; वहाँ शान्त, शीतल, मन्दस्वर-वाहिनी मंदाकिनी बह उठेगी।

प्रेम की अपार शक्ति का प्रभाव

इंग्लैंड में होमरलेन नामक शिक्षक था। उसे प्रेम की शक्ति पर अटूट विश्वास था। वह मानता था कि प्रेम से लोगों को [illegible] में बदला सकता है। वह बालकों [illegible] को [illegible], आश्रम में रखता और धीरे-धीरे प्रेम भरी प्यारी बातों से उनके कोमल हृदयों को बदलता। इससे [illegible] शनैः शनैः दूर हो जाती और कोमलता अंकुरित हो उठती थी।

एक बार कोर्ट में पुलिस ने ऐसा लड़का उपस्थित किया, जो कई बार चोरी कर चुका था। न्यायाधीश ने उसे तीन मास की जेल की सजा दे दी। होमर इस घटना को जानकर कोर्ट में पहुँचा और उस लड़के को आश्रम के लिए दे देने की प्रार्थना की। न्यायाधीश ने उसके लिए स्वीकृति दे दी। होमरलेन उस उद्दण्ड लड़के 'जोन' को आश्रम में लाए, पर उसकी उखाड़-पछाड़ वृत्ति के कारण आश्रम के दूसरे लड़के कुछ ही दिनों में तंग आ गए। प्रतिदिन होमरलेन के पास शिकायतें पहुँचने लगीं कि यह आश्रम की बहुमूल्य वस्तुएँ तोड़-फोड़ डालता है, दूसरे लड़कों को हैरान करता है। ज्योंही होमर वहाँ बाहर से आश्रम में प्रवेश करता, विद्यार्थी और अध्यापक उसकी शिकायतों का पुलिंदा लिए खड़े रहते थे। एक दिन उन्होंने होमर से कह भी दिया कि "आप यह आफत की पुड़िया यहाँ कहाँ से ले आए? अगर आपको आश्रम चलाना है तो इसे विदा करिए। इसके कारण अन्य लड़के भी बिगड़ जायेंगे और हम सब परेशान तो हैं ही।"

होमरलेन बोले—"भाई! इसीलिए तो मुझे सबसे अधिक दया इस लड़के पर आती है। बचपन में जब इतना शैतान है तो बड़ा होने पर पता नहीं, डाकू या हत्यारा भी बन जाय। मालूम होता है, इसे प्रेम नहीं मिला है। जिस बच्चे को प्रेम नहीं मिलता, वह आगे चलकर नीरस, सूखा, कठो[र] और उद्दण्ड हो जाता है। मुझे विश्वास है कि इसे प्रेम मिलने पर एक दि[न] यह बिलकुल शरीफ हो जाएगा। मैं इसे प्रेम से सुधारने में सफल हो जाऊँगा। यदि आप लोग इसे आश्रम में रखने को तैयार नहीं हैं तो मैं इसे घर प[र] रखूँगा।"

इसके बाद होमरलेन उस शैतान लड़के को घर पर ले आए। भोज[न] के समय होमरलेन ने उससे कहा—"जोन! अपने खाने की प्लेटें जरा [illegible] टेबल पर लगा दो।"

जोन ने मुँह बिगाड़ते हुए कहा—"क्या मैं तुम्हारा गुलाम हूँ [illegible] करता फिरूँ?"

होमर ने बुरा न मानते हुए कोमल स्वर में कहा—"अच्छा भाई ! आज हम इन प्लेटों को टेबल पर ले चलेंगे, कल से तो तुम उठा लोगे न ?"

जोन ने कहा—"वाह ! मैं क्यों उठाऊँगा ? यह तो नौकरों का काम है। आज से तुम हमारे नौकर हो। हम तुम्हें प्लेट उठाने का पाँच पौण्ड मासिक देंगे।"

इस प्रकार की उद्दण्डता पर भी होमर उत्तेजित न हुए। होमर ने प्रेम से उत्तर दिया—"जोन ! तुम तो खानदानी घर में पैदा हुए हो, अतः कल तो अपने खानदान का परिचय दोगे न ? फिर तो तुम्हारे यहाँ दस नौकर भी रह सकते हैं। पर इसके लिए तुम्हें सज्जनता के साथ रहना होगा।"

होमर ने जोन के साथ खाना खाया। फिर वह उठकर बाहर चला गया और बड़ा-सा पत्थर उठा ले आया। उससे वह प्लेटें फोड़ने लगा। होमर वापिस आया और जोन को प्लेटें फोड़ते देखा तो उसने अपनी घड़ी भी जोन के सामने रखकर कहा—"जोन ! एक चोट इस पर भी मार कर फोड़ दो।" यह सुनकर जोन लज्जित हो गया। बस, वहीं से जोन के जीवन में नया मोड़ आया। होमरलेन की प्रेम-शक्ति ने उद्दण्डता पर विजय पाई। जोन का जीवन इतना शान्त, सुशील और सौम्य बना कि उसी 'रिपब्लिकन आश्रम' में वह शिक्षकों का प्रोफेसर बनाया गया।

यह है प्रेम की अगाध शक्ति का प्रभाव, जिसने जोन जैसे उद्दण्ड और समाज-विरोधी प्रवृत्ति वाले बालक को आदरणीय पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

प्रेम से पशु और वृक्ष भी प्रभावित

प्रेम की शक्ति पशु को मानव और दानव को देव भी बना सकती है। पशु भी प्रेम के प्यासे होते हैं। स्पेन में एक ग्वाला दूध दुहते समय मधुर-वाद्य बजा रहा था। किसी ने उससे कारण पूछा तो वह बोला—यह भी प्रेम का मूल्य जानती है। जब मैं वाद्य बजाता हूँ तो यह प्रेमविभोर होकर सारा का सारा दूध दे देती है। यही हाल अनाज व फलदार वृक्ष आदि का है। प्रेम से सहलाने, वाद्य बजाने से वनस्पति भी अधिक उपज देती है।

जहाँ प्रेम-भाव होता है, वहाँ कठिन से कठिन काम भी सरल बन जाते हैं। किसी कार्य में आ पड़ने वाली [illegible] प्रेम [illegible] चुनने जैसी सरल मालूम होती हैं। प्रेम की [illegible] स्थिति होती

ही नहीं। प्रेम की धुन में कर्तापन और कर्मफल का ध्यान न रहने से योगी की-सी स्थिति हो जाती है। केवल कर्तव्य ही सामने रहता है।

प्रेम-परायण प्राणी को बन्धन, बन्धन नहीं प्रतीत होता। वह अपने प्रेम-पात्र के लिए प्राण देने को तैयार हो जाता है। भौंरा यद्यपि काष्ठ का भेदन कर सकता है, लेकिन जब वह कमल की सुगन्ध में इतना मस्त एवं प्रेम विभोर हो जाता है तो सब कुछ सुधबुध भूल जाता है और कमल के कोश में बंद होकर अपने प्राण तक दे देता है। इसलिए एक कवि कहता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुकृत बन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोषे॥

वास्तव में प्रेम की रस्सी का बन्धन निराला ही है। पतंगा यह नहीं देखता कि प्रकाश पर जाने से मेरे प्राण चले जायेंगे, फिर भी प्रकाश देखते ही पतंगा उसके प्रेम में दीवाना होकर टूट पड़ता है और वहीं अपने प्राण दे देता है। ये बेचारे तिर्यंच तो प्रेम की परिभाषा और लक्षण भी नहीं जानते फिर भी प्रेम का भाव उनमें सहज रूप से होता है।

प्रेम से सुख की अनुभूति

एक महात्माजी पहाड़ की ऊँची-नीची घाटी चढ़ते जा रहे थे। पर थकान के कारण बुरा हाल था। बार-बार थककर बैठ जाते थे। वे सोचने लगे—'मैं भगवान के दर्शन करने जा रहा हूँ। भगवान के दर्शन में आनन्द है, पर उसकी साधना में आनन्द क्यों नहीं?' तभी पीछे की ओर दृष्टि गई तो देखा कि एक आठ-नौ वर्ष की बालिका भी पहाड़ की चढ़ाई चढ़ रही थी। उसकी पीठ पर दो वर्ष का बालक भी था तथापि उसके मुखमंडल पर थकावट का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता था। प्रसन्नमुखी बालिका कभी बच्चे को थपथपाती, कभी चूमती, कभी बनावटी नाराजगी दिखाकर बात-चीत करती, फिर हँसती हुई दुगुने उत्साह से चढ़ाई चढ़ने लगती।

महात्माजी के विचारों ने एकदम पलट खाया—'मेरे पास कोई बोझ नहीं; शरीर भी पुष्ट है, फिर भी थकावट; और इस नन्ही-सी बालिका की पीठ पर बालक है, तो भी मुख पर थकावट का कोई चिह्न नहीं।' उन्होंने पूछा—"मुन्नी! तुम इतना बोझ लिये चल रही हो तुम्हें थकावट नहीं मालूम होती क्या?"

'बोझ किस बात का है, बाबा! यह तो मेरा भाई है। देखते नहीं इसके साथ अठखेली करने में कितना आनन्द आता है।" यह कहकर बालिका ने शिशु के कोमल कपोल चूमे और एक नवस्फूर्ति-सी महसूस करते हुए चढ़ाई चढ़ने लगी।

महात्माओं ने भी इस पर विचार किया—'अगर मन में प्रेम हो तो भगवान् को प्राप्त करने की कठोर और कष्टपूर्ण साधना भी फूल-सी कोमल और सुखरूप लगती है।

प्रेम से कार्य में रसानुभूति

जब किसी काम में प्रेम नहीं होता, तो उसमें कर्त्तव्य-बुद्धि नहीं रहती। मनुष्य उस काम से जी चुराने लगता है, वह उसे भाररूप लगता है, उस काम को मानव बिगाड़ता है, उसमें कई भूलें करता है। प्रेम की शक्ति से जो कार्य कुछ ही समय में पूर्ण हो जाता है, वही कार्य प्रेम के अभाव में थकान एवं बेचैनी पैदा कर देता है। एक सरकारी नौकर दफ्तर का ४-६ घंटे का काम करने में 'बोर' हो जाता है जबकि देश-प्रेमी, समाजसेवी, सेवानिष्ठ लोग या माता अठारह घंटे काम करके भी नहीं थकते। रास्ते की सफाई जैसा तुच्छ काम एक सफाई कामदार बेगार समझकर करता है, जबकि शबरी जैसी रामभक्त महिला प्रतिदिन ऋषि-मुनियों के आने-जाने के मार्ग को प्रेमपूर्वक साफ करती थकती नहीं थी।

प्रेम आधार है, सहयोग और समन्वय का

जहाँ प्रेम की गंगा बहती है, वहाँ शान्ति, स्नेह, सहयोग और सौहार्द के पुष्प खिलते हैं। जिनके हृदय में प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होती है, वे अपनी परम्परा, क्रिया, मान्यता, रुचि आदि स्वत्वमोह छोड़कर एक जगह एकत्र होते हैं, परस्पर प्रेम और आदर से मिलते हैं, परस्पर विचार विनिमय करते हैं।

आगमों के पन्ने पलटिये। उत्तराध्ययन सूत्र के स्वर्णिम पृष्ठों पर भगवान पार्श्वनाथ-परम्परा के केशीश्रमण और श्रमण भगवान महावीर की परम्परा के इन्द्रभूति गौतम गणधर के परस्पर समागम का वर्णन अंकित है। श्रावस्ती के बाहर तिन्दुक उद्यान में दोनों महामुनि मिलते हैं। विचार-विनिमय की धारा के साथ प्रेम की धारा भी प्रवाहित होती है। उस प्रेम-मय दृश्य को देखने के लिए श्रावस्ती के नागरिकों के अतिरिक्त, देव, दानव, गन्धर्व तक अपनी दिव्यभूमि को छोड़कर उस प्रेम-गंगा में डुबकी लगाने के लिए आते हैं। जहाँ प्रेम का माधुर्य बरस रहा हो, वहाँ देव स्वयं चले आएँ तो कोई आश्चर्य नहीं।

जहाँ प्रेम की पराकाष्ठा के रूप में अहिंसा विराजमान रहती है, वहाँ सिंह और बकरी, सर्प और नेवला आदि जन्म-जात विरोधी भी एक

जगह शान्ति से निर्भय होकर बैठ जाते हैं। सिंह या नेवला के मन में अपने विरोधी को क्रुद्ध दृष्टि से देखने की वृत्ति भी उस समय नहीं होती।

प्रेम और प्रवंचना में अन्तर

जिसके मन में दूसरों के प्रति कोमल भावनाएँ होंगी, वही दूसरों से सम्मान और स्नेह प्राप्त कर सकेगा। मतलब के लिए गधे को बाप बनाने की नीति अधिकांश व्यक्ति जानते हैं। खुशामद, चापलूसी और भुलावा देने वाली मीठी बोली बोलने की कला को अब बहुत से लोग जान गये हैं। दूसरों को उल्लू बनाकर अपना मतलब गाँठने के लिए लोग इस हथियार का प्रयोग करते भी हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि हर प्राणी की आत्मा स्नेह, सम्मान, सद्भाव की प्यासी है। नकली रूप में भी प्रेम के ये प्रकार दिखाई देते हैं तो प्रेम के प्यासे उसमें फँस जाते हैं। इसीलिए जिस प्रकार दाने डालकर अपने जाल में कबूतरों को फँसा लेते हैं, मछुए जिस प्रकार आटे की गोली दिखाकर मछलियों को समेट लेते हैं, उसी प्रकार नकली प्रेम का प्रलोभन देकर कितने ही ठग दूसरों का सर्वस्व हरण कर लेते हैं। इन हथकंडों के बीच एक ही सत्य छिपा हुआ है कि हर प्राणी प्रेम का पिपासु है। वेश्याओं से लेकर प्रपंची ठगों एवं राजनीति-विशारदों तक सभी ने नकली मधुरता को अपने लिए व्यावसायिक अस्त्र बना रखा है।

प्रेम के नाम पर इस प्रकार की ठगी, चापलूसी, वासना और शोषण की प्रवंचना तो खूब बढ़ी है, पर सच्चा प्रेम, जिसमें आत्मदान और निःस्वार्थ सेवा का समावेश होता है, रेगिस्तान में पानी की तरह उसका दुनिया में दुष्काल छाया हुआ है।

संसार की विभीषिका, निर्मल प्रेम के अभाव में

आध्यात्मिक प्रेम की कमी के कारण ही आज संसार में अधिकांश लोगों का जीवन नीरस, शुष्क, मनहूस और कठोर बना हुआ है। सर्वत्र लोक-जीवन खोया-खोया-सा, अभाव से पीड़ित-सा दिखाई दे रहा है। यदि सच्चे प्रेम के कुछ कण भी मिल जाते हैं तो लोकजीवन पुनः हरा-भरा हो सकता है, उसमें माधुर्य की हरियाली, सजीवता एवं सरसता उत्पन्न हो सकती है। असली प्रेम की एक बूँद भी मिल जाए तो मनुष्य अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकता है। निःसन्देह मनुष्य को अपना धन और प्राण प्रिय हैं, किन्तु यदि उसे निश्छल प्रेम और स्नेह-सद्भाव की बूँदें परिवार, समाज और राष्ट्र से मिलती रहें तो वह रूखी रोटी खाकर, फटे चिथड़े पहनकर अमीरों से भी अधिक आनन्द और गौरव का अनुभव करता हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है।

यों तो सच्चे प्रेम का कोई मूल्य नहीं होता, उसे सिक्कों में नहीं खरीदा जा सकता, किन्तु यदि उसका मूल्यांकन करना ही हो, अथवा खरीदना ही हो तो उसे आध्यात्मिक सिक्कों में ही खरीदा जा सकता है। यदि आप में सच्चा प्रेम है तो वह आप से उदासीन, रुष्ट, विमुख या उपेक्षक या दुर्जन लोगों को भी अपने अनुकूल बना सकता है। सच्चे मन से किया हुआ प्रेम कभी निरर्थक नहीं जाता। देर-सवेर उसका प्रत्युत्तर अवश्य मिलता है। यदि प्रेम का प्रतिदान न भी मिले तो भी प्रेम का प्रयोक्ता घाटे में नहीं रहता। उस प्रेम के रसास्वाद से आनन्द, आत्मतृप्ति; आत्मसंतोष के लाभ का मूल्य कम नहीं है। उस लाभ को सिक्कों में नहीं आँका जा सकता। जो सच्चे प्रेम का अमृत पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, उसे मिथ्या भोगों की कामना, वासना और आसक्ति नहीं रहती। प्रेमामृत पीने पर मन कभी बुरे कार्यों, दुर्विचारों या विकारों की ओर भटक नहीं सकता। प्रेम एक निर्मल झरना है, उसके प्रवाह में जो भी आता है, वह निर्मल एवं स्वच्छ हो जाता है। जिसके अन्तःकरण में प्रेम की सरिता बहती है, वहाँ घृणा, द्वेष, वैर-विरोध, मोह, ईर्ष्या आदि भावहिंसा के तत्त्व रह नहीं सकते। प्रेम के विशाल समुद्र में ऊपर से जान पड़ने वाली मलिनताएँ वैसे ही समा जाती हैं, जैसे हजारों नदियों का कूड़ा-कर्कट समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाता है।

आप भी विधेयात्मक अहिंसा के इस भाव (प्रेम) को जीवन में धारण कर लें तो हर हाल में मस्त, हर क्षेत्र में सुखी-सन्तुष्ट एवं हर परिस्थिति में आनन्द से रह सकते हैं। सही शब्दों में कहा जाय तो प्रेम की पूजा ही परमात्मा की पूजा है।

प्रेम के बोल, अनमोल

प्रेम इतना दुर्लभ होने पर भी निर्मूल्य ही है, न तो उसके लिए कोई मूल्य दिया जाता है, न लिया जाता है। यदि मनुष्य के पास बिना मूल्य बाँटने की कोई चीज है तो वह प्रेम ही है। इस अमृत की कोई थाह नहीं। प्रेम का प्रसाद जितना अधिक बाँटा जाता है, उसका भंडार उतना ही अधिक भरता जाता है। प्रेम का प्रसाद वितरण करने में न तो कोई पैसा लगता है और न ही कोई साधन। प्रेम का प्रसाद वाणी से, शरीर-सेवा से, भावना से, विचार से, करुणा, दया, सहानुभूति, संवेदना आदि किसी भी रूप में संसार भर में वितरित किया जा सकता है। प्रेम के अमृत में न तो धन लगता है और न उसका दान करने में कुछ व्यय ही होता है। प्रेम आत्मा का सहज प्रकाश है, उसे किसी से पाने या कहीं से लाने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रेमरूपी सम्पत्ति को न तो कहीं से लाना होता है और न किसी से लेना होता है। मनुष्य की अन्तरात्मा में इसका समुद्र लबालब भरा है। ऐसा अथाह समुद्र कि हजारों वर्षों तक संसार के सारे मनुष्यों या अभीष्ट प्राणियों को बाँटा जाय, तब भी उसमें कमी नहीं आती। प्रेम मनुष्य की आत्मा का स्वयं का प्रकाश है। प्रकाश के वितरण से उसमें कोई कमी नहीं आती। कोई भी प्रकाश कितनी ही वस्तुओं को आलोकित क्यों न कर दे, अपना आभास कितने ही विस्तार में क्यों न डाले, किन्तु उसकी मूल मात्रा में जरा भी अन्तर नहीं आता। वह यथावत् पूरे का पूरा बना रहता है।

आत्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए आवरण हटाना आवश्यक

यद्यपि प्रेम निर्मूल्य है, किन्तु आत्मा में प्रेम का प्रकाश प्रज्वलित करने के लिए उस पर आए हुए मल, विक्षेप, स्वार्थ, संकीर्णता, मोह, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, द्रोह आदि आवरणों को हटाना पड़ेगा। तभी आत्मा में प्रेम का प्रकाश अभिव्यक्त हो सकता है। प्रेम प्रकाश की उपलब्धि के लिए उपाय और साधना करने की आवश्यकता है। इन भौतिक आवरणों को हटाने के लिए संसार के दीन-दुःखी मनुष्यों के प्रति दया, करुणा, सहानुभूति आदि कोमल भावनाओं से परिपूर्ण व्यवहार करना होगा। सभी प्राणियों के दुःखों को अपने दुःख और उनके आँसुओं को अपने आँसू समझने होंगे। अपनी शक्तिभर लोगों की सेवा-सहायता करनी होगी। प्राणिमात्र के प्रति इस सहानुभूति को जागृत एवं विकसित करने का सर्वोत्तम उपाय 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का व्यवहार है।

वैदिक धर्म के शब्दों में कहूँ तो मेरे सहित सृष्टि के समस्त प्राणी उस परमपिता परमात्मा की सन्तानें हैं, इस दृष्टि से सभी प्राणी मेरे भाई हैं। इस प्रकार का व्यापक भ्रातृभाव सबके हृदय में प्रेम का प्रवाह आन्दोलित कर देगा, प्रेम प्रकाश को आवृत करने वाले सारे आवरण छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। और प्रेम का अखण्ड प्रकाश निरावरण होकर फैलने लगेगा।

आत्मिक प्रगति का आधार : सहानुभूति

सहानुभूति और संवेदना

शरीर के किसी अंग में पीड़ा होती है तो सारा शरीर ही बेचैन हो जाता है। पैर में चोट लगी, आँखों में आँसू आ गये। हाथ में फोड़ा उठा, आँखों की नींद गायब। किसी ने लाठी सिर पर मारने का उपक्रम किया तो ... बचाने के लिए उठ गये। सारांश यह कि एक अंग दुःखी हो तो शरीर

ी सारी मशीन का काम ठप्प हो जाता है। उस कष्ट को मिटाने के लिए जिससे जो उपाय बन पड़ता है, करने लगता है। इसे कहते हैं सहानुभूति।

साथियों की या दुःखी या पीड़ित प्राणियों की जैसी भी स्थिति है, उसमें अपने को साझेदार मानना, यह आत्मविकास या आत्मविस्तार है।

आगमों में आत्मा का विकास इन्द्रियों के आधार पर बताया गया है। जीव सर्वप्रथम एक इन्द्रिय वाला ही होता है। उसके बाद वह क्रमशः उन्नति करते हुए द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय बनता है तथा पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति होने के पश्चात् जब वह और उन्नति करता है तो मन सहित अथवा संज्ञी बनता है। यह आत्मा की उन्नति अथवा विकास का क्रम है।

अब आप देखिए, एकेन्द्रिय जीव यथा—वृक्ष, पौधे आदि। इन्हें किसी के प्रति सहानुभूति नहीं, इनकी आत्मा का विकास इतना अल्प और निम्न स्तर का होता है, उनका संसार उन्हीं तक सीमित रहता है, अन्य जीवों के प्रति उनमें कोई सहानुभूति नहीं होती।

जब आत्मा और उन्नति करता है, विकलेन्द्रिय—दो, तीन, चार इन्द्रियों वाला बनता है तो वह अपने शरीर की रक्षा में ही तत्पर रहता है।

पंचेन्द्रिय बनकर जीव में कौटुम्बिकता का प्रादुर्भाव हो जाता है, अर्थात् आत्मा का विस्तार अपने कुटुम्ब तक हो जाता है—इसीलिए तो हरिणी अपने शिशु के बचाने के लिए सिंह के समक्ष अपने को अर्पित कर देती है।

मानव बनकर आत्मा का और भी विस्तार होता है। वह जाति, ग्राम, नगर, देश को अपना मानता है, राष्ट्र आदि के गौरव को अपना ही गौरव समझता है। राष्ट्र की पराजय से दुःखी होता है और विजय पर हर्ष मनाता है।

इसी तरह महान पुरुष समस्त संसार को ही अपना मानते हैं। उनकी आत्मा इतनी विकसित और उन्नत होती है कि उनमें 'सर्वात्मभाव' स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है।

आत्मा की उन्नतिशीलता की पहचान

आत्मा की उन्नतिशील स्थिति की पहचान यही है कि उसने दूसरे प्राणियों के साथ अपने को कितनी घनिष्ठता के साथ अनुबद्ध किया है, उसका आत्मौपम्य भाव कितना व्यापक हुआ है? अपनी आत्मा का जगत् के साथ आत्मौपम्य भाव से अनुबन्ध जोड़ना ही योग है। जो अपने आपको दूसरों

के साथ अन्तःकरण भाव से जितना अधिक जोड़ पाता है, वह उतना ही बड़ा योगी है। योगी के लिए पराये कहे जाने वाले सब अपने हो जाते हैं। उसके लिए अपनापन अलग रहता ही नहीं।

धर्मक्रियाओं का उद्देश्य : आत्म-विस्तार

वास्तव में, प्रत्येक धर्म के अंगभूत भजन, पूजन सत्संग आदि क्रियाएँ सब इसी संकीर्ण और सीमित अहं को व्यापक और विस्तृत करने के लिए हैं। इन सबका साध्य आत्मौपम्य भाव को विस्तृत बनाना है। व्यक्ति अपनी मलिनता और संकीर्णता को कम करता हुआ अन्तश्चेतना को व्यापक बनाता चले इसी में उसके जीवन की सार्थकता है। आत्म-विस्तार इतना अधिक होना चाहिए कि विश्व का कण-कण अपना प्रतीत होने लगे। अपनी आत्मा सब में ओत-प्रोत लगे। हर घर अपना घर और हर शरीर में अपने ही प्राण पिरोये हुए महसूस हों। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'विश्वबन्धुत्व' के व्यवहार के इर्दगिर्द ही अध्यात्म का सारा तत्त्वज्ञान घूमता रहना चाहिए।

जिसका अन्तःकरण इस प्रकार अपनी अहंता विकसित कर रहा होगा, उसे दूसरों की अनुभूतियाँ अपनी लगेंगी, दूसरों के कष्ट देखकर अपने कष्ट जैसी व्यथा होगी, दूसरों का पिछड़ापन अपने पिछड़ेपन की तरह ही असह्य लगेगा। दूसरों की अभावग्रस्तता देखकर उसके दिल में बेचैनी होगी यह वृत्ति आत्मौपम्य के विस्तार के साथ अनिवार्य एवं स्वाभाविक रूप से जुड़ी हुई है। इसे सहानुभूति या संवेदना, जो कुछ भी कहें, यह अहिंसा के साधक में विकसित होनी चाहिए। दूसरे की आँखों से बहते हुए आँसू आपकी आँखों को सजल न कर सकें या आपके हृदय को उद्वेलित न कर सकें तो समझना चाहिए, यह निष्ठुरता आत्मिक दृष्टि से पिछड़ापन है।

संत हृदय अति संवेदनशील

रामायण में वर्णित 'सन्तहृदय नवनीत समाना' की व्याख्यानुसार सज्जनों का हृदय मक्खन के समान कोमल एवं द्रवित होने वाला होता है। सज्जन व्यक्ति के हृदय के साथ सहानुभूति अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

वाल्मीकि का परिवर्तन सन्त के रूप में उस दिन हुआ, जिस दिन क्रौंच पक्षी को बाण से बींधते देख उसके साथी का विलाप उन्हें द्रवित करने में समर्थ हो गया। क्रौंच के वियोग को देखकर संवेदना से उनका हृदय भर आया, आँखें डबडबा आईं, जिस घड़ी उनके हृदय में यह संवेदना उत्पन्न हुई, उसी घड़ी वह सन्त के रूप में परिवर्तित हो गया।

संत तुकाराम की थाली में से कुत्ता रोटी लेकर भागा, उसके पीछे वे भी घी की कटोरी लेकर चले कि "मुझे घी की चुपड़ी रोटी भाती है, तो तुम सूखी कैसे खाओगे। यह तुम्हारे गले में अटक जाएगी। अतः यह घी भी लेते जाओ।"

रामकृष्ण परमहंस ने एक कुत्ते को पिटते देखा तो उनकी पीठ पर पिटाई के तीनों निशान उठ आए। जिसकी पीड़ा उन्हें कई दिनों तक महसूस हुई।

गांधीजी ने जब एक बुढ़िया को गंदी, फटी एवं मलिन साड़ी बदलने के लिए कहा, तब उसने कहा—"कैसे बदलूँ, मेरे पास तो एक ही साड़ी है।" यह सुनकर गांधीजी का हृदय राष्ट्र की गरीबी देखकर तड़फ उठा। उसी दिन से उन्होंने पूरे वस्त्र पहनना छोड़ दिया। आधी धोती पहनने और आधी ओढ़ने के लिए रखी।

यही सहानुभूति का तकाजा है।

कोमलहृदय व्यक्ति के लिए दूसरों के कष्ट कठोरतापूर्वक देखते रहना संभव नहीं होता। जिन व्यक्तियों को स्वयं वैभव-विलास का उपभोग करते हुए अपने समीपवर्ती दीन-दुःखियों का ध्यान नहीं आता, उन्हें सहृदय या सज्जन कैसे कहा जा सकता है? जो आत्मौपम्य के विस्तार की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ सके, उन्हें भक्त या ज्ञानी कैसे कहा जा सकता है? अध्यात्म की भाषा में उसे निष्ठुर या स्वार्थी ही कहा जा सकता है, जिसे अपने लिए सुख-सुविधा के साधन जुटाते हुए यह विचार नहीं आता कि अपने खर्च में किफायत करके उस बचत से न जाने कितने दुःखियों के कष्ट कम किये जा सकते थे। जिसके मन में सहानुभूति के भाव उपजेंगे, वह अपने धन ही नहीं, ज्ञान, समय, श्रम, बुद्धि, साधन आदि विभूतियों को अपने लिए न्यूनतम मात्रा में ही खर्च करेगा, और अधिकांश भाग उनके लिए प्रस्तुत करेगा, जो इनके अभाव से ग्रस्त हैं। ऐसे सहृदय व्यक्ति अपने लिए सुख-सामग्री जुटाने तथा अपने मन की इच्छाएँ पूर्ण करने की अपेक्षा दूसरों की समस्याएँ हल करने में अधिक प्रयत्नशील रहते हैं।

आत्मिक प्रगति के साथ-साथ संवेदना एवं सहानुभूति अनिवार्य रूप [illegible]हिए। उसे चरितार्थ करने के लिए अपने निए वज्र से भी [illegible]सरों के लिए फूल से भी कोमल—उदार रहने का क्रम है। उनकी अन्तश्चेतना की प्रेरणा इतनी बलवती हो [illegible] नहीं सकते।

[illegible] चाहिए कि ऐसे स्वार्थी और विलासी

संत तुकाराम की थाली में से कुत्ता रोटी लेकर भागा, उसके पीछे वे भी घी की कटोरी लेकर चले कि "मुझे घी की चुपड़ी रोटी भाती है, तो तुम सूखी कैसे खाओगे। यह तुम्हारे गले में अटक जाएगी। अतः यह घी भी लेते जाओ।"

रामकृष्ण परमहंस ने एक कुत्ते को पिटते देखा तो उनकी पीठ पर पिटाई के तीनों निशान उठ आए। जिसकी पीड़ा उन्हें कई दिनों तक महसूस हुई।

गांधीजी ने जब एक बुढ़िया को गंदी, फटी एवं मलिन साड़ी बदलने के लिए कहा, तब उसने कहा—"कैसे बदलूँ, मेरे पास तो एक ही साड़ी है।" यह सुनकर गांधीजी का हृदय राष्ट्र की गरीबी देखकर तड़फ उठा। उसी दिन से उन्होंने पूरे वस्त्र पहनना छोड़ दिया। आधी धोती पहनने और आधी ओढ़ने के लिए रखी।

यही सहानुभूति का तकाजा है।

कोमलहृदय व्यक्ति के लिए दूसरों के कष्ट कठोरतापूर्वक देखते रहना संभव नहीं होता। जिन व्यक्तियों को स्वयं वैभव-विलास का उपभोग करते हुए अपने समीपवर्ती दीन-दुःखियों का ध्यान नहीं आता, उन्हें सहृदय या सज्जन कैसे कहा जा सकता है? जो आत्मौपम्य के विस्तार की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ सके, उन्हें भक्त या ज्ञानी कैसे कहा जा सकता है? अध्यात्म की भाषा में उसे निष्ठुर या स्वार्थी ही कहा जा सकता है, जिसे अपने लिए सुख-सुविधा के साधन जुटाते हुए यह विचार नहीं आता कि अपने खर्च में किफायत करके उस बचत से न जाने कितने दुःखियों के कष्ट कम किये जा सकते थे। जिसके मन में सहानुभूति के भाव उपजेंगे, वह अपने धन ही नहीं, ज्ञान, समय, श्रम, बुद्धि, साधन आदि विभूतियों को अपने लिए न्यूनतम मात्रा में ही खर्च करेगा, और अधिकांश भाग उनके लिए प्रस्तुत करेगा, जो इनके अभाव से ग्रस्त हैं। ऐसे सहृदय व्यक्ति अपने लिए सुख-सामग्री जुटाने तथा अपने मन की इच्छाएँ पूर्ण करने की अपेक्षा दूसरों की समस्याएँ हल करने में अधिक प्रयत्नशील रहते हैं।

आत्मिक प्रगति के साथ-साथ संवेदना एवं सहानुभूति अनिवार्य रूप से बढ़नी चाहिए। उसे चरितार्थ करने के लिए अपने लिए वज्र से भी कठोरतम और दूसरों के लिए फूल से भी कोमल—उदार रहने का क्रम स्वतः चलने लगता है। उनकी अन्तश्चेतना की प्रेरणा इतनी बलवती हो उठती है, कि वे उसे रोक ही नहीं सकते।

इसके विपरीत यह समझना चाहिए कि ऐसे स्वार्थी और विलासी

के साथ आत्मौपम्य भाव से जितना अधिक जोड़ पाता है, वह उतना ही बड़ा योगी है। योगी के लिए पराये कहे जाने वाले सब अपने हो जाते हैं उसके लिए अपना-पराया अलग रहता ही नहीं।

धर्मक्रियाओं का उद्देश्य : आत्म-विस्तार

वास्तव में, प्रत्येक धर्म के अंगभूत भजन, पूजन सत्संग आदि क्रियाएँ सब इसी संकीर्ण और सीमित अहं को व्यापक और विस्तृत करने के लिए हैं। इन सबका साध्य आत्मौपम्य भाव को विस्तृत बनाना है। व्यक्ति अपनी मलिनता और संकीर्णता को कम करता हुआ अन्तश्चेतना को व्यापक बनाता चले इसी में उसके जीवन की सार्थकता है। आत्म-विस्तार इतना अधिक होना चाहिए कि विश्व का कण-कण अपना प्रतीत होने लगे। अपनी आत्मा सब में ओत-प्रोत लगे। हर घर अपना घर और हर शरीर में अपने ही प्राण पिरोये हुए महसूस हों। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'विश्वबन्धुत्व' के व्यवहार के इर्दगिर्द ही अध्यात्म का सारा तत्त्वज्ञान घूमता रहना चाहिए।

जिसका अन्तःकरण इस प्रकार अपनी अहंता विकसित कर रहा होगा, उसे दूसरों की अनुभूतियाँ अपनी लगेंगी, दूसरों के कष्ट देखकर अपने कष्ट जैसी व्यथा होगी, दूसरों का पिछड़ापन अपने पिछड़ेपन की तरह ही असह्य लगेगा। दूसरों की अभावग्रस्तता देखकर उसके दिल में बेचैनी होगी यह वृत्ति आत्मौपम्य के विस्तार के साथ अनिवार्य एवं स्वाभाविक रूप से जुड़ी हुई है। इसे सहानुभूति या संवेदना, जो कुछ भी कहें, यह अहिंसा के साधक में विकसित होनी चाहिए। दूसरे की आँखों से बहते हुए आँसू आपकी आँखों को सजल न कर सकें या आपके हृदय को उद्वेलित न कर सकें तो समझना चाहिए, यह निष्ठुरता आत्मिक दृष्टि से पिछड़ापन है।

संत हृदय अति संवेदनशील

रामायण में वर्णित 'सन्तहृदय नवनीत समाना' की व्याख्यानुसार सज्जनों का हृदय मक्खन के समान कोमल एवं द्रवित होने वाला होता है। सज्जन व्यक्ति के हृदय के साथ सहानुभूति अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

वाल्मीकि का परिवर्तन सन्त के रूप में उस दिन हुआ, जिस दिन क्रौंच पक्षी को बाण से बींधते देख उसके साथी का विलाप उन्हें द्रवित करने में समर्थ हो गया। क्रौंच के वियोग को देखकर संवेदना से उनका हृदय भर आया, आँखें डबडबा आईं, जिस घड़ी उनके हृदय में यह संवेदना उत्पन्न हुई, उसी घड़ी वह सन्त के रूप में परिवर्तित हो गया।

व्यक्तियों जीवन में श्रावकत्व या मानवत्व भी नहीं प्रगट हुआ है, जिसके सामने छोटे बालक, चाहे वे उनके न हों, लालसा भरी दृष्टि से ताकते रहें और वे अकेले मिष्टान्न या पक्वान्न खाते रहें। भावना-क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति को निष्ठुर ही कहा जाएगा, धिक्कारा ही जाएगा। यदि इतनी-सी निष्ठुरता और संकीर्णता पर अंकुश न लगाया गया और आत्मौपम्य को व्यापक न बनाया गया तो उसके सामायिक, प्रतिक्रमण या पूजा-पाठों अथवा तथाकथित धर्मसम्प्रदाय के अग्रगण्य कहलाने का प्रयोजन ही क्या रह जाएगा?

मानवीय कर्तव्य

जिस समाज में आप पैदा हुए हैं, उसके पिछड़ेपन की ओर आपका ध्यान जाना ही चाहिए। उसे दूर करने के लिए भी आपको यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। अपना शरीर रुग्ण हो या अपना बच्चा बीमार हो तो क्या कोई व्यक्ति उपेक्षा कर सकता है? इसी तरह व्यक्ति को अपने आप को अपने शरीर, घर और परिवार तक ही सीमित न रखकर अधिक व्यापक बनाना चाहिए और उस व्यापक क्षेत्र में जो व्यथा, विकृतियाँ हैं उन्हें सुधारने का अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। यह भी क्या जीवन है, जो सिर्फ अपने या अपनों के लिए ही जिया जाए? अपने ही लिए वैभव-विलास के साधन जुटाए जाएँ? वह भी क्या धर्मात्मा है जो अपने समाज की दुरवस्था की उपेक्षा करता हो? वह भी कैसा भगवद्भक्त, जो [illegible] के रूप में खड़े हुए मानव की सहायता करने के लिए न [illegible] रहे? धर्म का आचरण ओढ़ने से ही काम चलेगा, वीतराग देव की या तीर्थंकरों की आज्ञा में धर्म है, उसका पालन करने से ही धर्म होगा, [illegible]। [illegible] निष्ठुरता में और निष्ठुरता को [illegible] करें।

[illegible] के साथ [illegible]

[illegible] समाधान [illegible] है। [illegible] अर्थ है—[illegible] [illegible] बात [illegible] [illegible]

4

हृदय का माधुर्य: दया और करुणा

दया : अहिंसा का विधेयात्मक रूप

अहिंसा का एक महत्त्वपूर्ण विधेयात्मक रूप दया है। दया एक दैवी गुण है। दया के बिना कोई धर्म, धर्म नहीं रह सकता। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने दया को धर्म का मूल कहा है। दया का आचरण करके भी मनुष्य अपने आत्मौपम्य का विस्तार कर सकता है। द्वेष, वैर, विरोध, ईर्ष्या, घृणा आदि भावहिंसा की लपटें दया का स्पर्श पाकर स्वयमेव ही शान्त हो जाती हैं। इसीलिए परमात्मा को 'दया सिन्धु' कहते हैं। दया उनकी आत्मा का एक परम गुण है। सभी प्राणियों के प्रति उनकी दया की धारा सतत बरसती रहती है। विश्व के सभी प्राणियों के प्रति दया से प्रेरित होकर ही वीतराग प्रभु महावीर ने प्रवचन कहे हैं। दया का आचरण करके ही मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है और पशु-जगत् में दया का आचरण करके पशुत्व से मनुष्यत्व या मनुष्ययोनि प्राप्त कर सकता है।

दया के आचरण से पशु भी मनुष्य

एक बार एक जंगल में आग लग गयी। जंगल के सभी पशु-पक्षी अपनी रक्षा के लिये इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगे। उस जंगल में एक हाथी अपने झुण्ड के साथ रहता था। उसके मन में वन्य प्राणियों की भगदड़ देख दया का एक विचार स्फुरित हुआ—'मैं समर्थ पशु हूँ। मेरे अधीन बहुत से हाथी हैं। क्यों नहीं मैं जंगल में एक सुरक्षित मैदान बना दूं। जहाँ आग की लपट से बचने के लिए सभी प्राणी आश्रय ले सकें।' बस, उसने अपने झुण्ड के साथ मिलकर एक योजन (४ कोस) का मैदान साफ कर डाला, उसमें एक सूखा तिनका भी न रहने दिया कि आग को ईंधन न मिल सके।

अतः अब भागते हुए पशु उस मंडल में इकट्ठे होने लगे। हाथी ने सभी प्राणियों को उदार भाव से आश्रय दिया। कुछ ही समय में वह मंडल प्राणियों से खचाखच भर गया। कहीं पैर धरने को भी जगह नहीं रही।

इतने में एक खरगोश वहाँ आ पहुँचा। हाथी ने शरीर खुजलाने को एक पैर ऊपर उठाया। खरगोश ने पैर के नीचे की जगह खाली देखी तो वहाँ घुसकर बैठ गया। हाथी ने जब अपना पैर नीचे किया तो किसी प्राणी का कोमल स्पर्श जानकर उसके प्रति दया लाकर पैर पुनः ऊपर उठा लिया। कहते हैं, बीस पहर तक हाथी तीन पैरों के बल से ही खड़ा रहा। जंगल की दावाग्नि जब शान्त हुई तो सभी प्राणी धीरे-धीरे मंडल छोड़कर बाहर निकलने लगे, खरगोश भी चला गया। अब हाथी ने अपना पैर धरती पर रखने के लिए सीधा किया, परन्तु लगातार तीन दिन तक तीनों पैरों के बल खड़े रहने से उसकी नसें तन गईं। वह धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई।

मृत्यु के समय तक हाथी के हृदय में दया भावना थी। अपने कष्ट की कोई चिन्ता न थी, इसलिए शुभभावों से मर कर हाथी का जीव मनुष्य-भव में मगध सम्राट् श्रेणिक के यहाँ राजपुत्र मेघकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ।

यह दया का ही प्रताप था कि हाथी का जीव राजकुमार बना। इतना ही नहीं, मेघकुमार के दयालु हृदय में आत्मा का पवित्र प्रकाश जगमगा उठा। वह विरक्त होकर मुनि बन गया। यह सब दया भगवती के आचरण का ही सुफल था।

दया से अन्य दैवी गुणों की भी उपलब्धि

दया के आचरण से अन्य दैवी गुण स्वतः पैदा हो जाते हैं। महात्मा गांधी ने कहा था—"दया और सत्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जहाँ दया नहीं, वहाँ सत्य भी नहीं।"

के निवास के कारण आश्रमों का वातावरण हिंसा, क्रूरता, द्वेष, वैर आदि से रहित होता था। इतना ही नहीं, जहाँ मुनि अवस्थित होते थे वहीं प्रेम और सौहार्द का मधुर एवं शांत वातावरण निर्मित हो जाता था।

संयती राजा वन्य पशुओं का शिकार करने के लिए जंगल में गया था। वहाँ उसने एक मृग के पीछे घोड़ा दौड़ाया और तीर छोड़ा। पर हिरन घायल होकर भागा और वहीं पर ध्यानस्थ मुनि गर्दभाली के पास आकर बैठ गया। राजा उस मृग का पीछा करता हुआ मुनि के पास आ पहुँचा। मुनि के पास मृग को बैठा देख उसने भयभीत होकर सोचा—'हो न हो, आज मैंने मुनि के मृग को घायल कर दिया। मुनि अगर कुपित हुए तो मेरा अनर्थ हो जाएगा।' अतः मुनि का ध्यान खुलते ही राजा हाथ जोड़कर बोला—"मुनिवर! क्षमा करें। मैंने आपके मृग को घायल कर दिया।"

मुनि ने दया और अभयदान का स्वरूप बताकर संयती राजा को समझाया। इससे राजा को संसार से विरक्ति हो गई, उन्होंने मुनिदीक्षा ले ली। संयती राजर्षि स्वयं अभयदानी बन गए।

यह था दया का अचूक प्रभाव! दया प्राणियों के हृदय पर प्रभाव डालती है। दया समाज और राष्ट्र में परस्पर सुरक्षा और सौहार्द की गारंटी है क्योंकि इसमें दूसरों के हित की भावना निहित रहती है। जिस समाज में लोग एक दूसरे के प्रति दया रखते है, परस्पर सहृदय और सहयोगी बनकर काम करते है, वहाँ कलह की संभावना नहीं रहती। इसके विपरीत जहाँ क्रूरता होती है, वहाँ परस्पर विग्रह, अशान्ति, क्लेश आदि होते हैं, क्रूरता की प्रतिक्रियास्वरूप विभिन्न उपद्रव खड़े होते है। जबकि दया से समाज में स्नेह, एकता, आत्मीयता आदि कोमल भावों का विकास होता है। दया सुधार का एक शक्तिशाली माध्यम है। बड़े से बड़े क्रूरकर्मी एवं अपराधी भी दयालु हृदय की आत्मीयता एवं सद्भावना से सुधर जाते हैं। दया भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं भारतीय जनता के स्वभाव तथा चरित्र का मूलाधार है।

दया : आत्मा का गुण

दया आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। दया के लिए किन्हीं बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती। परदुःखकातरता, संवेदना, आत्मत्याग, एवं सहिष्णुता को अपनाने से दया का विकास होता है। दूसरे के दुःख, कष्ट एवं मुसीबतों को समझकर उन्हें सुखी बनाने, गिरे हुओं को उठाने, कष्ट दूर

करने की भावना का हृदय में उत्पन्न होना दया है। अपनी सुख-सुविधाओं पर ध्यान न देकर परदुःखनिवारण के लिए प्राणप्रण से जुट जाना, उस समय आने वाले कष्टों को सहर्ष सहन करना दया धर्म के आधार हैं। स्वयं दुःख उठाकर भी दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न तथा परहितसाधन में अपने आप को भूल जाना दया धर्म का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।

वस्तुतः दया का दान लड़खड़ाते पैरों को नई शक्ति प्रदान करना है, निराश हृदय में जागृति की नई प्रेरणा देना है, गिरे हुए को उठने की सामर्थ्य देना है। दयाधर्मी व्यक्ति किसी भी पशु-पक्षी आदि प्राणी का मांस, मछली, अंडे, खून नहीं खा-पी सकता और न ही पशु-पक्षियों के अंगो से बनी हुई दवाइयों या अन्य पदार्थों मरे हुए पशुओं के चमड़े के जूते या अन्य शृंगार साधनों का इस्तेमाल ही कर सकता है। जहाँ भी ऐसे जीवों को क्रूरतापूर्वक मारा-पीटा या वध किया जाता है वहाँ उक्त हिंसाकृत्य को बंद कराने का वह भरसक प्रयत्न करता है।

दयाविहीन जीवन के लिए कवि करुण स्वर में कहता है—

दया बिन बावरिया, हीरा जन्म गँवाए,
कि पत्थर से दिल को, क्यों ना फूल बनाए ? ॥ध्रुव॥
कोमलता का भाव न मन में, फिर क्या सुन्दरता से तन में।
जीवन विष बरसाए ॥दया० ॥१॥
दीन दुःखी की सेवा कर ले, पाप-कालिमा अपनी हर ले।
तिहुँ जग मंगल गाए ॥दया० ॥२॥

सचमुच, दया से शून्य जीवन पाषाण-हृदय है, हीरे-से जीवन को वह यों ही खो देता है। मनुष्य सुन्दरता से नहीं, दया आदि गुणों से ही उच्च माना जाता है। दया के बिना जीवन उजड़ा हुआ चमन है, सुगन्धहीन पुष्प है, सूखा रेगिस्तान-सा जीवन है।

आप प्रतिदिन दया धर्म का आचरण करें तो मानव समाज या अन्य प्राणियों के अनेकों कष्ट सहज ही समाप्त हो सकते हैं। आपकी दया की करोड़ों लोगों को आवश्यकता है जो दुःख, कष्टों एवं मुसीबतों से कराह रहे हैं।

करुणा : हृदय का माधुर्य

करुणा भी दया की तरह अहिंसा का विधेयात्मक रूप है। इसका अर्थ है—'परदुःखप्रहाणेच्छा।' दूसरे के दुःख को देखकर उसे दूर करने की इच्छा और तदनुसार प्रयत्न करुणा कहलाती है। दूसरे का दुःख अपना दुःख तभी

बन सकता है, जब हृदय में विशालता हो, जीवन में पवित्रता हो। दुखी को देखकर आपका हृदय करुणा से भर आए, यही जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार है। करुणा उपदेश नहीं, आचरण चाहती है। किसी दुखी या पीड़ित को करुणा की दो बूंदें मिल जाएँ तो उसके जीवन में हरियाली आ सकती है। करुणा जब मानव हृदय से निकल जाती है, तब वह बुझा हुआ दीपक-सा बन जाता है।

एक जगह कुछ हरिजन एक सूअर को बड़ी बेरहमी से बांधकर पीटते हुए ले जा रहे थे। वह छूटने के लिए छटपटा रहा था। हमारे कहने पर भी उसने छोड़ा नहीं। इतने में एक मुस्लिम आया, वह सूअर को लक्ष्य करके बोला—"बड़ा बदमाश है यह ?"

बताइये, बदमाश कौन है ? सूअर या वह हरिजन ? पर क्रूर हृदय मानव बेचारे परवश पशु की करुण चीत्कार कहाँ सुनता है ? दूसरे को पीड़ा में देखकर आपका हृदय दुःख से भर आता है या आनन्द से ? यदि दुःख होता है तो करुणा देवी आपके हृदय में विराजमान है। जीवित हृदय वही है, जहां करुणा है, अन्यथा केवल मांस का टुकड़ा है।

भागवतपुराण में राजा रंतिदेव का आख्यान मिलता है। वह बड़ा करुणाशील प्रजावत्सल राजा था। एक बार रंतिदेव के राज्य में दुष्काल पड़ा, दूर-दूर तक उसका प्रभाव हुआ। अन्न के अभाव से लोग त्राहि-त्राहि कर उठे। महाराजा रंतिदेव जनता का दुःख देखकर चिन्तित हो उठे। उन्होंने राज्य के जितने भी अन्न भंडार थे, वे सब दुष्काल-पीड़ितों के लिए खोल दिए। उधर राजा ने यह प्रतिज्ञा ले ली कि 'जब तक मेरे राज्य का एक भी प्राणी भूखा रहेगा, मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' राजा का प्रण सुनकर प्रजा भी व्यथित हो उठी। कोई भी पुकार करने नहीं आता।

एक-एक करते ४८ दिन हो गये। आखिर मंत्री के बहुत आग्रह पर राजा ने भोजन करना स्वीकार किया। रोटी का टुकड़ा तोड़कर राजा ज्यों ही मुंह में डालने लगे, तुरन्त एक महिला की पुकार सुनाई दी। राजा के हाथ रुक गये। उन्होंने उस महिला को बुलाकर वह रोटी उसके भूखे बच्चे को खाने के लिए दे दी। फिर दूसरी बार रोटी का टुकड़ा तोड़ने लगे तो एक चाण्डाल अपने कुत्ते को लेकर आ गया। राजा ने दूर से ही देखकर उसे पास बुलाया। सारी बात सुनकर उसे भी उसके साथी कुत्ते को खिलाने के लिए रोटी दे दी। अब तो राजा के पास सिर्फ पानी बचा था। ज्यों ही वे उस से प्यास शान्त करने का प्रयास कर रहे थे कि देवों ने राजा रंतिदेव के

जय-जयकार की। उनकी असीम निश्चल करुणा देखकर देवों ने जलवृष्टि की, जिससे वह दुष्काल सुकाल में परिणत हो गया।

यह है—करुणा का ज्वलन्त उदाहरण!

आज संसार का हर आदमी अपने ही कष्ट को मिटाने में व्यग्र है। उसकी दृष्टि घूम-फिरकर अपने व अपनों पर ही केन्द्रित हो जाती है। उसमें उदार भावना शुस गई है। समाज व राष्ट्र के दुःखित-पीड़ित व्यक्तियों के प्रति उसके दिल-दिमाग में कर्त्तव्य, दायित्व या आत्मीयता की भावना बहुत ही कम जागती है। स्वार्थ की परतों से करुणा की मूर्ति इतनी अधिक ढक गई है कि हृदय में करुणा की ज्योति नहीं जलती। करुणा की भावना ही तो मानव में आत्मौपम्य को विकसित करती है। कई व्यक्ति अज्ञान, अन्धविश्वास, भ्रम, दुर्व्यसन तथा चरित्र-दौर्बल्य के कारण करुणाजनक जीवन बिताते हैं, कई दुःख-दारिद्रय से क्लान्त हैं, उनके उक्त दुःखों को मिटाने का भरसक प्रयत्न करना ही करुणामय जीवन का लक्षण है।

मैत्री : आत्मविकास की सीढ़ी

मैत्री मानव-जीवन को सुख-शान्ति, प्रसन्नता और सहजता से बिताने में परम सहायक बनती है। जब मानव किसी भी मनुष्य, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, राष्ट्र, नगर, प्रान्त या विश्व के मानवों या किन्हीं प्राणियों के साथ मैत्री करने जाता है, तब उसे उसके सुख-दुःख, हर्ष-शोक, दोनों का बँटवारा करना होता है। मित्रता तभी होती है, जब दिल में पारदर्शिता हो, सरलता हो, विश्वास हो। और जब मित्रता किसी से होती है तो मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उसके दुःख-सुख में साझीदार बने। मैत्री में दो आत्माओं का मिलन होता है। जैन-धर्म का प्रत्येक साधक, चाहे वह श्रावक हो या श्रमण, प्रतिदिन प्रतिक्रमण में इस भावना का उच्चारण करता है।

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई

—मेरी समस्त जीवों के साथ मैत्री है, किसी के साथ वैर-भाव नहीं है।

देह मर सकता है, मगर मैत्री नहीं मरती। क्योंकि वह तो देहातीत (आत्मा) के साथ होती है। पूर्वजन्म की मैत्री के कारण चेटक राजा के साथ कूणिक सम्राट् के हुए घोर संग्राम में देवेन्द्र शक्रेन्द्र और असुरेन्द्र चमर महा-युद्ध में कूणिक की सहायता करते हैं।

मैत्री का अर्थ आचार्य करते हैं—परहित चिन्ता मैत्री। केवल किसी

स्वार्थ, धन या खान-पान के लिए जो मैत्री करते हैं, वे धोखे देने और घाते
मैत्री में स्वार्थ, भौतिक पदार्थ या धन आदि का कोई आकर्षण हो तो
नकली मैत्री है। सज्जनों के साथ मैत्री टिकती है, पर दुर्जनों के साथ
मैत्री घटती जाती है। एक कवि ने सज्जन और दुर्जन के साथ मैत्र
सम्बन्ध में सुन्दर युक्ति प्रस्तुत की है—

आरम्भ गुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्द्ध भिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम्॥

—दुर्जनों के साथ मैत्री पूर्वाह्न की छाया के समान होती है, जो
प्रारम्भ में पूर्वार्द्ध की छाया की तरह बहुत लम्बी और पुष्ट होती है, परन्तु
बाद में क्रमशः क्षीण होती जाती है। लेकिन सज्जनों के साथ मैत्री अपराह्न
की छाया-सी होती है, वह प्रारम्भ में छोटी होती है, मगर बाद में क्रमशः
बढ़ती जाती है।

अहिंसा के साधक को वैदिक सूक्त की तरह 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि
भूतानि समीक्षामहे' (मित्र की आँख से समस्त प्राणियों को देखें) का आदर्श
रखना चाहिए, इस से सबको निर्भयता, विश्वास और निःशंकता मिलती
है। विपत्ति के समय ही मित्र की सच्ची परीक्षा होती है। सच्चा मित्र ही
विपत्ति के समय काम आता है।

प्रमोद और माध्यस्थ्य भाव : अहिंसा के विकास के लिए

विधेयात्मक अन्तरंग अहिंसा के लिए जैसे करुणा और मैत्री ये दोनों
आवश्यक हैं, वैसे ही प्रमोद और माध्यस्थ्य इन दोनों की भी आवश्यकता है।

प्रमोद भावना

प्रमोद भावना हृदय की संवेदना का एक अंग है। दूसरों को सुखी,
उन्नत और समृद्ध देखकर प्रसन्नता प्रकट करना तो प्रमोद भावना है ही,
किन्तु उद्योगियों और पुरुषार्थियों से प्रेरणा ग्रहण करना भी प्रमोद भाव है।

मनुष्य में साधारणतया यह दुर्बलता होती है कि वह दूसरों की समृद्धि
और उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या करने लगता है, दूसरों की उन्नति से जल उठता
है और उन्हें नीचे गिराने या बदनाम करने की कोशिश करता है। ईर्ष्या
बहुत बड़ी नागिन है, वह बार-बार डसती रहती है। भयंकर मानसिक हिंसा
है यह। इस मानसिक हिंसा से छुटकारा पाने के लिए प्रमोद भावना व्यक्ति
की दृष्टि और व्यवहार में एक सृजनात्मक पहलू का निर्माण कर देती है।
जिन व्यक्तियों में अच्छाइयाँ हैं, सद्गुण हैं, योग्यताएँ हैं, उन्हें देखकर प्रसन्न
होना, उन्हें आदर देना, उनकी प्रशंसा करना प्रमोद या मुदिता भावना है।

प्रमोद भावना वाला व्यक्ति ईर्ष्या और अहंकार दोनों हिंसाओं का शिकार न होकर दूसरों के सद्गुणों और क्षमताओं के प्रति नैकट्य और आन्तरिक लगाव पैदा करके धीरे-धीरे अपने में भी वह गुण और योग्यता पैदा कर लेता है। प्रमोद भावना व्यक्ति को विशाल और निर्द्वन्द्व बनाती है।

माध्यस्थ्य भावना

विश्व का प्रांगण विचित्रता का क्रीड़ा-स्थल है। यहाँ मानव इतने विचित्र-विचित्र आचरण करते हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कई लोग ऐसे धूर्त, छली, प्रपंची, क्रूर और खटपटिये होते हैं, कि जिनको समझाने का कोई परिणाम नहीं आता। वे अत्याग्रही, कदाग्रही और जिद्दी होते हैं। वे अपनी उसी प्रकार की बुराई में डूबे रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में कुछ व्यक्ति झल्ला उठते हैं, क्रोध, कलह और वाक्युद्ध कर बैठते हैं; कई हाथापाई, गाली-गलौज व्यर्थ का विवाद, मारपीट आदि करते रहते हैं। दुनिया के धर्मों का इतिहास इन घटनाओं का साक्षी है। इन विवादों, कलहों, क्रोध और उसके फलस्वरूप हाथापाई, गाली-गलौज या मारपीट से हिंसाएँ ही बढ़ी हैं।

माध्यस्थ्य भावना ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति को संतुलित रहने की प्रेरणा देती है। जो मनुष्य बार-बार समझाने पर भी अपनी आदत नहीं छोड़ता, अपने हित की बात भी नहीं सुनता, उस पर क्रोध करके अपनी शान्ति को स्वाहा क्यों किया जाए? अपने मानसिक सुख को लुप्त क्यों किया जाए? जो आदमी समझाने पर भी निर्मल और शीतल पेय जल को छोड़-कर दुर्गन्धमय कर्दम पीता है, उसके लिए क्या किया जा सकता है? अपने मन को व्यग्र, कषाय-कलुषित एवं हिंसक बनाकर दूसरों का उद्धार या सुधार बल प्रयोग से करना अपनी समतावृत्ति को आग में झोंकना है। इसके निराकरण का सबसे अच्छा अहिंसक उपाय है—माध्यस्थ्य भावना।

इसीलिए अमितगति द्वात्रिंशिका में कहा गया है—**माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ**—जो अपने से विपरीत स्वभाव वाले हैं, अथवा जो अपने हित के, अपने आत्मिक सद्गुणों के विपरीत आचरण करने में ही सदैव-सतत प्रयत्नशील रहते हैं, उनके प्रति कल्याण भावना रखते हुए अपने समत्वभाव में लीन रहना चाहिए। उनसे उलझकर, वाद-विवाद में फँसकर अपनी शांति और समता को दाँव पर लगाना कदापि उचित नहीं है।

माध्यस्थ्य भावना में यह ध्यान रखने योग्य है कि यह तटस्थ *भावना नहीं है। तटस्थ भावना तो निरपेक्ष हो सकती है, ठीक उसी प्रकार*

जैसे किसी नदी के तट पर बैठा व्यक्ति नदी के प्रवाह में बहते हुए तिनकों के प्रति निरपेक्ष हो सकता है किन्तु नदी के मध्य में खड़ा व्यक्ति निरपेक्ष नहीं रह सकता। किसी बहते हुए प्राणी को देखकर उसका करुणाशील हृदय द्रवित हो उठेगा और उसकी रक्षा के लिए वह जो कुछ संभव होगा अवश्य करेगा।

साधक भी अभी संसार के मध्य में स्थित है, वह संसार से मुक्त नहीं हुआ है। अतः माध्यस्थ्य भावना द्वारा वह विपरीत वृत्ति वालों, पापी और कुकर्मियों की हित-कामना करता है, किन्तु अपनी शांति और समत्वभाव को खंडित नहीं होने देता। यही माध्यस्थ्य भावना का हार्द है।

वात्सल्य का चमत्कार

वात्सल्य भी विधेयात्मक अहिंसा का अंग है। वात्सल्य भी प्रेम की तरह व्यापक और आत्मा को स्पर्श करने वाला है। जगत के सभी प्राणियों के साथ हमारा सम्बन्ध जन्म-जन्मातर से चलता आया है। जैसा कि कहा गया है—न सा जाई न सा जोणी—ऐसी कोई जाति अथवा योनि नहीं है जिसमें हमारी आत्मा ने जन्म न लिया हो। इस दृष्टि से संसार के सभी प्राणियों से हमारा संबंध है। परन्तु उस सम्बन्ध को अब स्वार्थ सम्बन्ध न रहने देकर वात्सल्य सम्बन्ध बनाना है। इसी प्रकार रघुवंश महाकाव्य में देवदारु वृक्ष को पार्वती-पुत्र बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैसे मिट्टी एक होते हुए भी उससे कुम्हार घड़ा, सुराही, सकोरा, हंडियाँ आदि अलग-अलग बर्तन बनाता है। वैसे ही अलग-अलग रूप और आकृति होते हुए भी मूल चैतन्य (आत्मा) सबका स्वरूप की दृष्टि से समान है। गीता में अर्जुनरूपी मन वासुदेवरूपी आत्मा में आत्मा के अथवा परमात्म तत्त्व के विराट् रूप का दर्शन करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारा और विश्व के जीवों का परस्पर सम्बन्ध है।

सवाल यह है कि लाखों-करोड़ों सन्तानों को पैदा करके उन पर माता की तरह स्नेह-वात्सल्य बरसाने की अपेक्षा, आप अपने वीर्य के मूल-भूत आत्मा में से वात्सल्य का शुद्ध प्रवाह बरसाएँ तो कितना अच्छा हो? इन दोनों में से पिछला मार्ग उत्तम है। सिर्फ दृष्टि बदलने की जरूरत है। पहले जहाँ—ये दूसरे के हैं, इस प्रकार की परदृष्टि थी, वहाँ अब सभी मेरे ही हैं, आत्मीय हैं इस प्रकार की आत्मवत् दृष्टि या वात्सल्य दृष्टि का विकास करना है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में वर्णन आता है कि देवकी रानी के यहाँ उसके

छहों पुत्र भिक्षा के लिये आये लेकिन वह उन्हें पहचान न सकी, ये मेरे ही पुत्र हैं यह न जान सकी, पर जब तीर्थंकर अरिष्टनेमि कहा—"देवकी ! ये छहों पुत्र तुम्हारे ही हैं", तब देवकी की दृष्टि और मनःस्थिति कितनी बदल गई थी ? उसका वात्सल्य अंग-अंग से फूट पड़ा था।

जैसे माता अपने बालक पर वात्सल्य-वर्षा करती है, तब अपने सभी दुःखों को भूल जाती है, बालक के संवर्द्धन-रक्षण के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है, वैसे ही विश्व-वात्सल्य का साधक भी समाज, राष्ट्र या विश्व को बालक मानकर उसके दुःखों को स्वयं कष्ट सहकर भी दूर करे। माता स्वयं भूखी रहकर भी तृप्त रहती है, नम्र भाव से सेवा करती है वैसे ही स्वयं भूखे-प्यासे रहकर समाज, राष्ट्र एवं विश्व के सभी प्राणियों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करे। अपने रज-वीर्य द्वारा सन्तति-सर्जन करने के बजाय वीर्य-रज दोनों के मूल बुद्धि और हृदय दोनों के पीछे आत्मैक्य द्वारा विश्व के प्रति शुद्ध प्रेम प्रवाहित करना उत्तम है। इसीलिए विश्ववात्सल्य मोह, स्वार्थ, संकीर्णता, जातिभेद, राष्ट्रभेद आदि भेदों से परे है। विश्ववात्सल्य में आत्म-शुद्धि भी अनायास हो जाती है। इसमें प्रवृत्ति मार्ग एवं निवृत्ति मार्ग दोनों ही आ जाते हैं। तथापि इसमें न तो प्रवृत्ति मार्ग के अभिमान, मोह, मदान्धता आदि दूषण हैं और न ही निवृत्ति-मार्ग के आलस्य, अकेलापन, स्वार्थ या शुष्कता आदि दूषण हैं।

हाँ, अपने पुत्र के प्रति वात्सल्य तो स्वाभाविक है। किन्तु उसमें भी राग या मोह का अंश हो तो उसे दूर करना आवश्यक है। साथ ही दूसरों के प्रति वात्सल्य बहाते समय भी कहीं राग या मोह न आजाय, इसकी सावधानी रखना भी आवश्यक है।

वैदिक पुराण श्रीमद्भागवत में जड़ भरत का उदाहरण आता है कि भरत महाराज राजपाट छोड़कर गंडकी नदी के तट पर प्रभुभजन और तपश्चरण करने चले गये थे। वहाँ एकान्त शान्त स्थल में वे एक सादी पर्ण-कुटी में एकाकी रहकर संयमी जीवन बिताते थे। कन्दमूल खाकर अपना निर्वाह करते थे। आस-पास की वनराजि में वृक्षों और लताओं का अनुपम सौन्दर्य निहारते हुए मस्ती से जीवन बिताते थे।

एक दिन समीपवर्ती सरोवर में एक मृगशिशु को बहते हुए देखा तो दया से प्रेरित होकर उन्होंने उसे बाहर निकाला, आश्रम में लाये, उसे तृण वगैरह खिलाकर स्वस्थ किया। यहाँ तक तो उनका कार्य ठीक था। किन्तु इसके बाद मृग उन्हें अपनी कूद-फाँद और अन्य चेष्टाओं से आकर्षित करने

लगा। उसने ऋषि भरत के मन पर ऐसा जादू डाला कि वे अपनी साधना, जप-तप छोड़कर रात-दिन उसके कोमल शरीर को पपोलने, चूमने, उसके साथ स्वयं क्रीड़ा करने लगे। इस प्रकार उनका वात्सल्य विकृत होने लगा। मृगशिशु में इतनी आसक्ति हो गई कि योग-साधना भी छूट गई। मृगमोह के वश वे मरकर मृगयोनि में उत्पन्न हुए।

इसलिए वात्सल्य के बहाने कहीं मोह, आसक्ति या राग न घुस जाए, इसकी सावधानी रखना अति आवश्यक है।

गृहस्थवर्ग कदाचित् कुटुम्ब-वात्सल्य से विश्ववात्सल्य तक एकदम न पहुँच सके फिर भी लक्ष्य तो उसे विश्व-वात्सल्य तक का ही रखना है। भगवान महावीर ने सद्गृहस्थ के लिए विश्ववात्सल्य को सक्रिय बनाने हेतु सहधर्मी वात्सल्य (समाज वात्सल्य) तो बताया ही है। परन्तु उसका अभ्यास समग्र मानव-जाति तथा पशु-पक्षी वगैरह के प्रति वात्सल्य का होना चाहिए। श्रमण संत तो संसार के सभी प्राणियों के प्रति वात्सल्य रखते हो है। वे तो 'पट्कायना पीयर' कहलाते हैं।

जैसे बच्चों को वात्सल्य देने वाली माता को अपने बच्चों के खा-पी लेने पर स्वयं भूखे रहने में भी आनन्द की अनुभूति होती है, वैसे ही वात्सल्य-प्रेमी पुरुष एवं महिला को परिवार एवं समाज से ऊपर उठकर समग्र मानव-समाज के प्रति वात्सल्य लुटाने पर आनन्द की अनुभूति होती है।

डॉ० जोर्ज हेरेरा उसलार स्वीडन में दक्षिणी अमेरिका के वेनेजुएला राष्ट्र के राजदूत थे, साथ ही करोड़पति भी थे। वेनेजुएला में उनकी अपार सम्पत्ति कई संस्थानों में लगी हुई थी। वे कितने ही बैंकों, समाचार-पत्रों और जमींदारियों के मालिक थे। इस पूंजीपति का हृदय उदार और वात्सल्यपूर्ण था। सौभाग्य से उन्हें धर्मपत्नी भी ऐसी ही वात्सल्यमयी मिली थी।

सन् १९५० में यह दम्पती सैर के लिए आस्ट्रिया के प्रसिद्ध नगर साल्सबर्ग गये। वहाँ उनके एक परिचित ने बताया कि "साल्सबर्ग के निकट ही एक आश्रम है, जिसमें वे अनाथ बच्चे रखे जाते हैं, जिनका न कोई अपना घर है, न देश।" यह सुनते ही उसलार दम्पती का हृदय करुणा से उमड़ पड़ा। उक्त परिचित व्यक्ति के साथ वे दोनों उस आश्रम को देखने गये। उन्होंने आश्रम को घूम फिरकर देखा और एक अनाथ बच्चे को अपने साथ ले आये। उसे गोद ले लिया और अपनी जन्मभूमि 'काराकास' ले गये। उसलार दम्पती उस बच्चे को वात्सल्य देने लगे। उसका जीवन विकसित होने और आनन्द से बढ़ने लगा। अब उसके दुःख के दिन

दूर हो गये। बालक के चेहरे पर आनन्द का भाव टपकने लगा। उसलार दम्पती के प्रति भी उसकी कृतज्ञता व आत्मीय भावना व्यवहार से प्रकट होने लगी। वह बच्चा अब उसलार कहलाने लगा।

यह देखकर उसलार दम्पती की आत्मा वात्सल्य के परमानन्द में मग्न हो उठी। एक दिन उन्होंने सोचा—'जब हमने एक बच्चे को दुःख-सागर से उबारा और उसे अपनाकर अपना आनन्द सौगुना बढ़ा लिया, तब यूरोप के बहुत-से अनाथ, भूखे, नंगे लड़कों को अपने साथ रखकर उनका पालन करें और वात्सल्य दें तो हमारा आनन्द इससे कई गुना बढ़ जाएगा।' बस, उस कर्मठ-युगल के मन में यह विचार आते ही उन्होंने इस कार्य को शीघ्र करने की ठान ली कि ऐसे एक हजार बच्चों को अपने यहाँ रखा जाय और उनका उद्धार किया जाय। उसके बाद ऐसे बच्चे खोजे जाने लगे। उनके आवास के लिए उत्तम प्रबन्ध, बढ़िया सामान और अन्य सब साधन जुटा लिये गये और दिसम्बर १६५० तक बेवेरिया, बाल्कन राष्ट्रों और आस्ट्रेलिया से ५० नये अनाथ बालक आस्ट्रिया पहुँच भी गए जिनमें ६ महीने से लेकर ७ साल तक के बच्चे थे। इन अनाथ बच्चों की परवरिश शुरू हो चुकी थी।

इस उसलार-दम्पती ने पक्का विचार कर लिया कि इस वर्ष के ईस्टर के त्यौहार (अप्रैल के प्रथम सप्ताह) तक उन एक हजार अनाथ एवं दुःखी बालकों को परम सुखी बनाकर अपना वात्सल्य परम आनन्द के रूप में परिणत किया जाये।

वास्तव में, जो सद्गृहस्थ इस प्रकार से वात्सल्य गंगा बहाते हैं, वे आत्मिक आनन्द की अनुभूति से वंचित नहीं रहते। चाँदा (म० प्र०) में सौ० मदनबाई पारख भी इसी प्रकार की वात्सल्यमयी महिला हैं, जिसने अपने घर को ही वात्सल्य धाम बना रखा है। वह स्वयं छोटे-छोटे अनाथ बच्चों को अपने यहाँ रखती है, उनका पालन-पोषण, संवर्द्धन स्वयं करती है तथा उन्हें उत्तम शिक्षण संस्कार एवं वात्सल्य प्रदान करके सुखी बनाती है।

जिसके हृदय में वात्सल्य हो, उसके पास सर्प, भेड़िये आदि भी कुटुम्बभाव से रहते हैं। महर्षि रमण के आश्रम में बंदर, मोर, गिलहरी, सर्प, भेड़िये आदि रहते थे। सारा अरुणाचलम् पर्वत उनका घर था। उसमें निवास करने वाले सभी जीव-जन्तु उनके बन्धु-बान्धव, सुहृद सखा एवं पड़ोसी थे। वे सब प्राणी अपने पारिवारिक झगड़े तय कराने महर्षि के पास आया करते थे।

स्वामी रामतीर्थ हिमालय में जहाँ रहते थे, वहाँ शेर, चीते, प्रायः उनके दर्शनों को आया करते और उनके समीप बैठकर घंटों विश्राम किया करते थे।

ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि अगर हमारा वात्सल्यभाव विस्तृत हो सके तो हम विराट् विश्वपरिवार के सदस्य होने का गौरव प्राप्त कर आनन्द की निर्झरिणी में डुबकी लगा सकते हैं।

वात्सल्य का प्रभाव केवल मनुष्यों एवं समझदार जानवरों पर ही नहीं, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत् पर भी अनूक रूप में पड़ता है।

केलिफोर्निया (अमेरिका) में सन्त लूथर बरबैंक ने अपने सम्पूर्ण जीवन में विश्ववात्सल्य का अभ्यास किया और यह सिद्ध कर दिया कि वात्सल्य से पेड़-पौधों और वनस्पति जगत् को प्रभावित, परिवर्धित एवं परिवर्तित किया जा सकता है।

स्वयं लूथर बरबैंक अपनी पुस्तक 'दि ट्रेनिंग आफ ह्यूमन प्लान्ट' में लिखते हैं—"आत्मचेतना के विकास के साथ मैंने अनुभव किया कि संसार का प्रत्येक परमाणु आत्ममय है। जीव-जन्तु ही नहीं, वृक्ष-वनस्पतियों में भी वही आत्मा प्रभासित हो रही है। वात्सल्य देकर इन्हें भी सुधारा जा सकता है। गुलाब के पौधे पर जो काँटे हैं, वे क्रोध और रूक्षता के प्रतीक हैं। सम्भव है, लोगों ने इसे सताया—कष्ट दिया होगा। इनकी आकांक्षाओं की ओर ध्यान न दिया होगा।

"मैंने गुलाब पर वात्सल्य का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। गुलाब का एक पौधा लगाया। मैं उसके पास जा बैठता। मेरे अन्तःकरण से सद्भावनाओं की सशक्त तरंगें उठती और पास के वातावरण में विचरण करने लगती। मैं कहता—मेरे प्यारे बच्चे! मेरे गुलाब! लोग फूल लेने इस दृष्टि से नहीं आते कि तुम्हें कष्ट दें। वह तो तुम्हारे सौन्दर्य से प्रेरित होकर आते हैं। वैसे भी तुम्हारी सुवास विश्वहितार्थ है। जब संसार की प्रसन्नता के लिए दान और उत्सर्ग ही तुम्हारा ध्येय है, तो फिर ये काँटे तुम क्यों उगाते हो? तुम अपने काँटे निकालना और लोगों को अकारण कष्ट देना भी छोड़ दो, तो फिर देखना कि संसार तुम्हारा कितना सम्मान करता है? अपने स्वभाव की इस मलिनता और कठोरता को निकालकर एक बार देखो तो सही कि यह सारा संसार तुम्हें हाथों में उठा लेने को तैयार है या नहीं?

"गुलाब से मेरी प्रति-दिन ऐसी बातचीत होती। भावनाएँ अन्तःकरण से निकलें और वे खाली जाएँ, तो फिर संसार में ईश्वरीय तत्त्व को मानना

ही कौन ? गुलाब धीरे-धीरे बढने लगा। उसमें सुडौल डालियां फूटी, चौड़े-चौड़े पत्ते निकले, और पाव-पाव भर के हँसते-इठलाते फूल भी निकलने लगे, पर क्या मजाल कि उसमें एक भी कांटा आया हो। उसने मेरी बात सहर्ष मान ली और सन्तोष यह हुआ कि मेरे बाग का गुलाब बिना कांटों का था।"

इसी प्रकार के वात्सल्य के प्रयोग बरबैंक ने अखरोट, आलू, कद्दू, बेरीज, पापीज, नेक्टारीनेस आदि सैकड़ों पौधों पर किये। इसी प्रकार बिना कांटों वाला सेहुँड (थूहर का एक प्रकार) भी इनके बाग में इसी वात्सल्य प्रयोग से हुआ।

वात्सल्य के दो रूप : अनुग्रह और निग्रह

वात्सल्य का प्रयोग दो प्रकार से होता है। जैसे मां बच्चे पर अनुग्रह भी करती है और जब बच्चा गंदा हो जाता है, माँ की आज्ञा नहीं मानता है तो माँ उस पर नाराज होकर प्रेम से चपत भी लगा देती है। इसी प्रकार एक बच्चा बीमार है, डॉक्टर ने मिठाई खाने की मनाही की है। बच्चा मचल जाता है, मिठाई खाने के लिए परन्तु माँ उसे नहीं देती। माता के हृदय में बच्चे के प्रति कोई द्वेष नही है। वह ऐसी दशा में निग्रह करती है, तो यह भी अहिंसा का ही एक रूप है।

संघ में आचार्य सभी साधुओ के प्रति अनुग्रह रखते हैं, किन्तु जब कोई साधु संघ की मर्यादा के विरुद्ध आचरण करता है, दोष लगाता है और आचार्य के पास आलोचना करके प्रायश्चित्त लेने नही पहुँचता, तब आचार्य उस साधु को सावधान करते हैं और वह सावधान नही होता है, तब उसे मर्यादानुसार दण्ड देते है, वे भी हित-बुद्धि से देते हैं, इसलिए निग्रह रूप होने पर भी अहिंसा है। वात्सल्य में ये दोनों रूप अहिंसा के अन्तर्गत माने जाते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्मसंघ से लेकर सारे विश्व तक के प्राणियों—पेड़-पौधों तक के प्रति वात्सल्य का प्रयोग हो सकता है। चण्डकौशिक सांप पर भी भगवान महावीर ने इसी वात्सल्य का प्रयोग करके उसकी दुष्टता को मिटा दिया। उसके हिंसक स्वभाव को अहिंसक रूप में बदल दिया। उस सर्प का विष भी भगवान महावीर के अंगूठे में दुग्ध धारा के रूप में निकला। ऐसा अनुपम था भगवान का वात्सल्य ! □□

5

सेवा और क्षमा धर्म तथा सह-अस्तित्व

सेवा : उच्च कोटि का परमार्थ

सेवा विधेयात्मक अहिंसा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह अहिंसा का सक्रिय रूप है, आत्मौपम्य की भावना तो इसके साथ ताने-बाने की तरह गुँथी हुई है ही। मानव-जीवन अनेक दुर्लभ सद्गुणों का पिण्ड है। मनुष्य का जीवन इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह अनेक विशेषताओं एवं विराट् शक्तियों का केन्द्र है। परमात्मा की शक्ति जितनी विराट् व व्यापक है, उतनी ही व्यापक व विराट् मानवीय शक्ति है। यही कारण है कि मानव को ईश्वर का प्रतिरूप माना गया है। मानव-जीवन को महत्ता के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले गुणों में सेवा एक महत्त्वपूर्ण गुण है। यह जीवन का एक आवश्यक अंग है। उसी के आधार पर व्यक्ति को आत्म-सन्तोष मिलता है। आत्मा के सर्वांगीण गुणों के विकास के लिए सेवा अनिवार्य साधना है क्योंकि आत्मौपम्य की भावना, दूसरे के प्रति सद्भाव, दूसरे के व्यक्तित्व का आदर, समस्याओं को सुलझाने में दूसरे के प्रति स्नेह, सहयोग और समर्पण—ये सब सेवा के रूप हैं। जैसे अपने से पिछड़े, पीड़ित, दुःखी, रुग्ण एवं आर्त्त व्यक्तियों के दुःख को अपना दुःख समझकर उसे मिटाने के लिये प्रयत्न करना सेवा है वैसे ही अपने से गुणों में श्रेष्ठ एवं पूज्य व्यक्तियों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति में सहयोग देना, उनके आदर्शों को यत्किंचित् रूप में भी अपने जीवन में उतारना और उनके प्रचार-प्रसार में सहयोग देना भी सेवा है। ज्ञानवृद्धि, सामूहिक उत्कर्ष, दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन जैसे शुभकार्यों में संलग्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं का पोषण करना भी श्रेष्ठ सेवा है। इनमें सहयोग देना सेवा धर्म का उचित मार्ग है।

जनसेवा : प्रभुसेवा का रूप

भारतीय संस्कृति में मानव-सेवा, विशेषतः पीड़ित मानव की सेवा

को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है, इसे प्रभु-सेवा, एवं ईश्वर-पूजा तक का महत्त्व दिया गया है। रुग्ण, पीड़ित, दीन-दुःखी की सेवा सर्वाधिक पवित्र कर्त्तव्य है। भारतीय संस्कृति का यह स्वर भगवान महावीर की वाणी से झंकृत हुआ है। एक बार गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भगवन्! एक व्यक्ति सर्वस्व समर्पण करके आपकी सेवा करता है और दूसरा व्यक्ति ग्लान, रोगी, पीड़ित और दुःखी जनों की सेवा करता है। उनकी सेवा में इतना व्यस्त रहता है कि आपकी सेवा के लिए अवकाश नहीं रहता। आप दोनों में से किसे अच्छा मानेंगे, किसे धन्य कहेंगे?"

महाश्रमण महावीर ने कहा—"जे गिलाणं पडियरइ, से धन्ने"—जो व्यक्ति ग्लान, रोगी एवं पीड़ितों की सेवा करता है, वही अधिक धन्यवाद का पात्र है।"

इस कथन से गौतम के मन की जिज्ञासा पूर्ण रूप से समाहृत नहीं हुई। उन्होंने पुनः पूछा—"भगवन्! ऐसा क्यों? कहाँ तो आप जैसे पूर्ण विकसित आत्मा की सेवा और कहाँ सामान्य प्राणियों की सेवा? आपकी तुलना में उन सामान्य प्राणियों की सेवा का क्या महत्त्व है?"

भगवान महावीर ने कहा—"मुझे अपनी सेवा की जरूरत नहीं है, मैं तो सर्वसाधारण पीड़ितों की सेवा को ही अपनी सेवा समझता हूँ।"

इसका कारण बताते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—वीतराग! तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्' हे वीतराग प्रभु! तेरी आज्ञा का पालन करना ही तेरी सेवा है। प्रभु की आज्ञा है—मैत्री और करुणा। इन्हीं का मूर्त्तरूप जन-सेवा है।

इसीलिए भक्त हरिदास कहते हैं—

> जनसेवा ते प्रभुनी सेवा, एह समझ विसराय नहीं।
> ऊँच-नीचनो भेद प्रभुना मारगडामां थाय नहीं॥

महर्षि वशिष्ठ भारतीय तत्त्वचिन्तन के प्रमुख प्रतिनिधि हैं, धर्मों के व्याख्याता हैं। योगवाशिष्ठ में वशिष्ठ और राम का महत्त्वपूर्ण संवाद उल्लिखित है। वशिष्ठ से राम लोक-जीवन के प्रतिनिधि बनकर पूछते हैं—"महात्मन्! ईश्वर की पूजा कैसे की जाती है?" इस पर वशिष्ठ ने कहा—

> "येन केन प्रकारेण यस्य कस्याऽपि देहिनः।
> सन्तोषं जनयेद् राम! तदेवेश्वरपूजनम्॥

"राम! जिस किसी प्रकार से किसी भी रूप में जिस किसी भी

देहधारी की आत्मा को तृप्त करना ही ईश्वर पूजन है। ईश्वर की सेवा-पूजा के सम्बन्ध में महर्षि वशिष्ठ ने वरिष्ठ चिन्तन का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसमें किसी भी प्रकार के स्वार्थ एवं भेदभाव से रहित होकर प्राणिमात्र की सेवा को ईश्वर-सेवा के तुल्य बताया गया है। प्राणिमात्र को यहाँ ईश्वर का प्रतिरूप बताया गया है।

भारत के सभी धर्मों ने सेवा, समर्पण, सद्भाव, परोपकार एवं परमार्थ के विराट् आदर्श प्रस्तुत किये हैं। यहाँ व्यक्ति का मूल्यांकन धन-वैभव, सत्ता या पद के आधार पर नहीं किया गया है, अपितु त्याग, बलिदान, समर्पण और सेवा के आधार पर ही किया गया है। जितना बड़ा जननायक हुआ है, वह सेवा के आधार पर ही बना है। मनुष्य की महनीयता सेवा पर प्रतिष्ठित है। यहाँ सबसे यही पूछा गया है कि आप अपने हाथ-पैरों से कितनी जन-सेवा करते हैं? यही महत्ता और पूज्यता का मानदंड रहा है। मानव-शरीर का महत्त्व भी सुन्दरता या स्वस्थता में नहीं, अपितु सेवा और सहयोग में है, दुःखियों के आँसू पोंछने में है। सेवा ही मानव के क्षुद्र जीवन को विराट् बनाती है। जिस प्रकार माता अपने बेटे के लिए कष्ट सहती है, पर बदले में कुछ चाहती नहीं; उसी प्रकार निरहंकार भाव से जो अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहता है, वही सेवाभावी है। उसे ही परमात्मा का सान्निध्य पाने का सौभाग्य मिलता है।

जैन दृष्टि से संसार में तीर्थंकर पद सर्वोच्च पद है, जिनके चरणों में इन्द्र भी नतमस्तक होकर अपने को धन्य मानते हैं। समस्त पुण्यों में श्रेष्ठ पुण्यपुंज तीर्थंकर पद है। वह तीर्थंकर पद वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) से ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] यह भगवान महावीर द्वारा दिया गया उत्तर है। इसलिए जीवन की विराट्ता का दर्शन सेवा से प्राप्त होता है। इसमें मनुष्य का जीवन क्षुद्र से विराट् बनता है।

पशु-पक्षियों में चेतना का इतना विकास नहीं होता। पारिवारिक या सामाजिक चेतना उनमें नहीं होती। यह मनुष्य में ही सम्भव है। परन्तु मनुष्य यदि अपने ही स्वार्थ में लीन हो जाए, अपने ही शरीर के या अपनों के घरोंदे में बंद हो जाए तो समझना चाहिए कि उसमें मानवीय चेतना नहीं, पशु स्तर से वह ऊँचा नहीं उठा है। उसमें किसी पीड़ित के प्रति सहयोग

1. 'वेयावच्चेण तित्थयर नामगोत्तं कम्म निबंधइ' —उत्तराध्ययन, २९/[illegible]

सहानुभूति, सद्भाव जतलाने की भावना नहीं है। वह मानव होकर भी क्षुद्र कीड़े-मकोड़े की तरह आत्म-विकास को क्षुद्र घेरे में बंद करके बैठा है।

सेवा : अहंकार एवं क्षुद्र वृत्तियों का विसर्जन

मनुष्य स्वार्थ के लिये बड़े से बड़ा कष्ट उठा सकता है, धन कमाने के लिए सर्दी, गर्मी, वर्षा एवं असुविधा की परवाह किये बिना रात-दिन एक कर सकता है। नौकरी के लिए मालिक की गुलामी कर सकता है, नम्र बन सकता है, पद पाने के लिए सत्ताधारी के यहाँ सौ चक्कर लगा सकता है, उनकी खुशामद कर सकता है। एक आसन पर बैठकर हजारों मालाएँ फेर सकता है, युद्ध में विजय के लिये अपने शरीर को झोंक सकता है। परन्तु सेवा करने में इनसे भी बड़ा तप करना पड़ता है। कारण यह है कि उपर्युक्त कार्यों के पीछे तो स्वार्थ और अहं का पोषण होता है, परन्तु सेवा में तो स्वार्थ और अहं का त्याग करना पड़ता है। सेवा के लिये अपने अहं को मारना होता है, विनम्र होना पड़ता है, अपनी सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देनी पड़ती है। अपने आपको समर्पित करना होता है। सेवा और बड़प्पन, सेवा और अहंकार या सेवा और व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की इच्छा दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते।

स्वत्व-समर्पण—'अप्पाणं वोसिरामि' करने के बाद अपना तो कुछ भी शेष नहीं रह जाता—यही सच्ची सेवा है, निष्काम कर्म है, स्वार्थमुक्ति है। सेवा चाहे व्यक्तिगत क्षेत्र की हो, पारिवारिक क्षेत्र की हो या सामाजिक, राष्ट्रीय या जागतिक क्षेत्र की हो, सर्वत्र अहंकार, कामना, स्वार्थ, पद-प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि आदि की तिलांजलि देना आवश्यक है तभी सेवा तप का रूप लेती है। क्योंकि सेवा के बदले जैन-दर्शन में 'वैयावृत्य'[1] शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होता है—समस्त इच्छाओं, कामना, वासना, प्रसिद्धि, स्वार्थ, अहंकार, द्वेष, ईर्ष्या आदि से व्यावृत्ति—विमुक्तता का भाव उत्पन्न होना एवं तदनुसार क्रिया करना। इसीलिए तो कहा है—

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'

—सेवाधर्म अत्यन्त गहन है, योगियों के लिए भी वह अगम्य है।

वैष्णव दृष्टि से सेवा परमात्मा का सौंपा हुआ कार्य है। इसलिए व्यक्ति के अहंकर्तृत्व, कामना या स्वार्थलिप्सा की इसमें कोई गुंजाइश ही

---

१. 'व्यावृत्तभावः कर्म वा वैयावृत्यम्'

नहीं है। सेवाभावी की भावना यही रहती है—"मैं स्वयं कोई सेवा नहीं कर रहा हूँ। मैं तो परमात्मा के हाथ का यंत्र हूँ। वे मुझे जिस कार्य में प्रेरित करते है, वह करना है। अतः जो कुछ करता है, वही करता है। मैं सेवाकार्य से किसी व्यक्ति या समाज पर कोई एहसान नहीं करता, अपितु इसे प्रभु सेवा समझकर मानसिक सन्तोष एवं आनन्द प्राप्त करता हूँ। यही मेरी सेवा का मूल्य है, जो मुझे परमात्मा सदा देता रहता है।"

यद्यपि सेवा में बाहर से परिचर्या होने से इसे बाह्यतप कहना चाहिए था, किन्तु सेवा की आन्तरिक भूमिका में इच्छानिरोध, मनोनिग्रह, वासना-मुक्ति, स्वार्थवृत्ति से निवृत्ति एवं निरहंकार भावना आदि का होना आवश्यक है, इसलिए सेवा को आभ्यन्तर तप कहा गया है। अपनी इच्छाओं, लोभ एवं स्वार्थ पर नियंत्रण किये बिना सेवा हो नहीं हो सकती।

मान लीजिए, पड़ोस में कोई बीमार है। उसकी सेवा करने वाला कोई नहीं है। आप उसकी सेवा के लिये पहुँचे। वह पीड़ा से कराह रहा है, वेदना से व्याकुल हो रहा है, मानसिक वेदना भी भयंकर है, उसे नींद नहीं आती। बार-बार वमन होती है। शरीर थक कर चूर-चूर हो रहा है, कभी दवा और कभी पानी की जरूरत पड़ती है, कभी मल और मूत्र विसर्जन के लिए भी परिचारक की अपेक्षा रहती है। ऐसी स्थिति में क्या आप रोगी की परिचर्या की ओर ध्यान न देकर बेखटके सो सकते हैं या पलंग पर लेटे-लेटे आराम कर सकते हैं? रात के गहरे सन्नाटे में क्या बीमार के पास बैठकर आपको जागना नहीं पड़ेगा? प्रतिक्षण जागृत रहकर रोगी की हालत पर निगरानी नहीं रखनी होगी? साथ ही समय पर रोगी को दवा-पानी देना, मल-मूत्र कराना, शरीर दबाना, मधुर-स्निग्ध वचनों से बार-बार रोगी को सान्त्वना देना, रोगी की मानसिक चिन्ता को दूर करना आदि सब कार्य क्या अपनी सुख-सुविधाओं के ठोकर मारे बिना हो सकते हैं? कदापि नहीं। कभी-कभी तो रोगी इतना उत्तेजित हो जाता है, कि भद्दी गालियाँ तक सेवा करने वाले को दे देता है। कभी चिल्लाने और रोने लगता है, तो कभी परिचारक को विक्षिप्त होकर मारने-पीटने लगता है। उस समय सेवाकार्य की परीक्षा होती है। इसी कारण सेवा को महातप, महायोग कहा है। सेवा करने वाले को ऐसे समय शान्ति का महासागर बनना पड़ता है, सब कुछ मन मारकर सहना पड़ता है, अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। सेवा में सदा दूसरे के सुख का ही ध्यान रखा जाता है, अपने सुख का नहीं।

भारत का तत्त्वज्ञान इसी कारण सेवा को स्वर्ग और मोक्ष में भी

बढ़कर मानता है। भारत के महामनीषी सेवापरायण साधकों ने अपनी सुख-सुविधा या स्वर्गादि की परवाह न करके एकमात्र पीड़ित लोगों की पीड़ा के निवारण की कामना की है कि वह अपने प्राप्त साधनों या अंगोपांगों को पीड़ितों की सेवा में समर्पित कर दे। वैदिक परम्परा के सेवामूर्ति राजा रंतिदेव ने भावविभोर होकर ये उद्‌गार निकाले थे—

> नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
> कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

—मुझे राज्य की कामना नहीं है, और न मैं स्वर्ग चाहता हूँ, न ही मुझे मोक्ष की कोई चाह है, मैं तो एकमात्र यही कामना करता हूँ कि जो प्राणी, फिर वे कोई भी हों, कैसे भी हों, पीड़ा से पीड़ित है, दुःख से संतप्त हैं, उनकी पीड़ा मिटाऊँ, उनकी सेवा करके उनको सुख-शान्ति पहुँचाऊँ।

इसलिए सेवाव्रत अनशनादि तप की अपेक्षा भी महान है। प्रातःकाल साधक जब गुरुदेव के चरणों में त्याग, प्रत्याख्यान या तप अंगीकार करने के लिए उपस्थित होता है, तब गुरु या बड़े साधक संघ या संघाटक में किसी रोगी आदि की सेवा के लिए उसकी आवश्यकता समझते हैं तो बाह्य तप न कराकर सेवा का कार्य बताते हैं। क्योंकि भगवान महावीर का आदेश है, कि अगर सेवा-कार्य सामने हो तो तप न करके सेवा करे। सेवा-कार्य के लिए तप को भंग करना पड़े तो भी दोष नहीं, लाभ ही है। क्योंकि अनशन तप से सेवा तप महत्तर है।

सेवा एक : फल तीन

इसीलिए सेवा तप के तीन फल प्राप्त होते हैं। सेवा एक है, लेकिन वह तीन काम करती है। एक तरफ सेवा सेव्य व्यक्ति को सुख प्रदान रूप होने तथा मधुर आश्वासन रूप होने से पुण्य-फलजनक है। दूसरी ओर सेवा में व्यक्तिगत सुख-साधनों, कषायों तथा योगों आदि आस्रवों का निरोध होने से संवर भी है तथा तीसरी ओर भावविशुद्धि रूप आत्मौपम्य भाव में लीनता, आत्म-स्वभाव में परिणति होने से पूर्वबद्ध कर्मों की क्षयरूप निर्जरा भी है। इस प्रकार सेवा अपने आप में स्वर्ग एवं मोक्ष का द्वार खोलने वाली है।

मनुष्य जीवन में ही सेवा तप का शुभवसर

इस विश्व में देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य के रूप में अनन्त-अनन्त प्राणी हैं। नरक के जीवों को तो सेवा का सौभाग्य प्राप्त ही नहीं है। वे स्वयं ही अत्यन्त कष्ट और कषाय से संतप्त रहते हैं। वे एक-दूसरे की क्या सेवा कर सकते हैं? देवगण यद्यपि सुखी तो रहते हैं, किन्तु सेवा धर्म के

सम्बन्ध में उनको भी लगभग ऐसी ही स्थिति है, क्योंकि परिवार और समाज के अभाव में वहाँ परस्पर सहयोग के अवसर आते ही कहाँ है? वहाँ पशु-पक्षियों की बात, ये बेचारे यह भी नहीं जानते कि सेवा क्या है, कैसे होती है? अतः मानव जीवन ही भाग्यशाली जीवन है, जहाँ सेवा का ज्ञान विज्ञान जानकर मनुष्य परिवार, समाज, राष्ट्र धर्मसंघ एवं विश्व के प्राणी मात्र की सेवा कर सकता है। वैसे तो मानव एक शरीर के रूप में क्षुद्र इकाई है लेकिन आत्मा के रूप में वह आत्मौपम्य भावों से इतना विराट् बन सकता है कि परिवार से लेकर विश्व के प्राणिमात्र तक की सेवा द्वारा व्याप्त हो सकता है। मनुष्य अपनी उदात्त भावना से अपना सुख दूसरों को देता है और दूसरों के दुःख को स्वयं ले लेता है। वह सुख-दुःख को बाँटता ही नहीं, अपितु दूसरों के लिए स्वर्गोपम सुख का निर्माण करता है। दुःखमुक्ति ही योग, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों का तत्त्व-बीज है। भारतीय संस्कृति का साधक यही प्रार्थना प्रभु से करता है—

> दयामय! ऐसी मति हो जाय! दयामय०..............।
> त्रिजगत् की कल्याण-कामना दिन-दिन बढ़ती जाय॥
> औरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का करूँ उपाय।
> अपने दुःख सब सह लूँ, किन्तु पर-दुःख देखा न जाय॥
> भूला-भटका उलटी मति का, जो है जन समुदाय।
> उसे सुझाऊँ सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय॥

सेवा की उदात्त भावना प्रत्येक चरण में भरी हुई है। सेवा सर्वात्मवाद पर आधारित है। यह अहिंसा-साधना का महत्तम पुरुषार्थ है।

सेवा का प्रथम चरण : अज्ञान निवारण

संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं, आधि-व्याधि-उपाधियाँ हैं। लोग नाना प्रकार के सन्तापों से पीड़ित है। कहीं महामारी है तो कहीं दुर्भिक्ष है, कहीं सूखा है तो कहीं बाढ़ आ गई है, कहीं भूकम्प है, कहीं अग्निकाण्ड है, कहीं चोरी, आक्रमण, रोग या कोई दुर्घटना है। इस प्रकार के कारणों से मनुष्य कई बार अचानक विपत्तियों में फँस जाता है। उस समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा होती है। अपाहिज, अनाथ, असमर्थ, असहाय, वृद्ध, विधवा या असहाय महिला आदि को भी सहायता अपेक्षित होती है।

ऐसे आपद्ग्रस्तों को अपने बलबूते के अनुसार यथाशक्ति सहयोग देना, सहायता करना—मानवधर्म है। आकस्मिक संकटों के अवसर पर भी सेवा करना उदारहृदय व्यक्ति का कर्तव्य है।

संसार के इन और ऐसे ही दुःखों को मिटाने के लिए सहृदय व्यक्ति के मन में करुणा उत्पन्न होनी चाहिए तथा उसे सेवा का प्रयत्न और उसके लिए त्याग भी करना चाहिए। किन्तु इससे पूर्व सेवाभावी को यह भी जानना चाहिए कि विश्वव्यापी शोक-सन्तापों, आधि-व्याधियों या दुःख-क्लेशों का कारण क्या है ? कारण को जानने पर यानी निदान हो जाने पर ही उसका उचित उपचार हो सकता है।

वास्तव में विश्वव्यापी समस्त दुःखों का मूल कारण है—अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, तृष्णा-वासना या स्वार्थ। इन महाव्याधियों को हटाये बिना दुःखों को दूर करने के समस्त प्रयत्न ऐसे ही हैं, जैसे रक्त-विकार की फुंसियों पर मरहम लगाना। इससे व्याधि का जड़ से निवारण नहीं होता। इससे आप यह न समझें कि तात्कालिक कष्टों या सामयिक अभावों से पीड़ित मनुष्य की सेवा या सहायता न की जाए, उनकी तात्कालिक सेवा तो अवश्य की जाए, लेकिन बाद में उस कष्ट के कारणों पर विचार करके उनको जड़-मूल से समाप्त करने का उपाय समझाया जाय, या किया जाए। अन्यथा, उतने सहयोग-मात्र से न तो मानव-जाति के कष्ट दूर हो सकते हैं, और न ही समस्याएँ सुलझ सकती हैं।

धन देकर की हुई सेवा सबसे साधारण है। उससे मनुष्यों की कुछ समस्याएँ थोड़ी देर के लिए हल हो जाती है। किसी को शरीर-सुख पहुँचाकर की हुई सेवा भी कुछ समय तक ही दुःख दूर कर सकती है। किन्तु इस कथन का यह प्रयोजन नहीं है कि तन और धन से सेवा नहीं करनी चाहिए; यह तो उदारहृदय व्यक्ति समय-समय पर करता ही रहता है और करनी ही चाहिए। परन्तु जब तक व्यक्ति का जीवन-क्रम नहीं सुधरेगा तब तक इन तन और धन की सहायताओं से भी उसका काम नहीं चलेगा। उसे स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी।

आज जो सर्वत्र अशान्ति, क्लेश, कलह, पीड़ा या संताप बढ़ रहे हैं, उनका कारण धन या तन के सुखों की कमी नहीं है। तन और धन के सुख तो समयानुसार बढ़ते जा रहे हैं, फिर भी जो क्लेश बढ़ रहे हैं उनका कारण मेरी समझ से व्यक्ति और समाज का आन्तरिक स्तर, चरित्र और आदर्शों का पतन हो जाना है। इन्हें उठाने की जो सेवा है, उसी से विश्वव्यापी समस्याएँ सुलझेंगी अन्यथा कुँआ बनवाने, प्याऊ लगवाने, दवाखाने और धर्मशाला बनवाने या ऐसे ही किस्म के अन्य राहत कार्यों के करने से व्यक्ति के जीवन में कोई सुधार या परिवर्तन नहीं आ सकता।

आप भी उस गलती को क्षमा करें। जिस कारण वह गलती हुई है, उस कारण को मिटाओ, परिस्थिति को बदलो, किन्तु व्यक्ति को दोष मत दो।

गलती तो समर्थ से समर्थ व्यक्ति से भी हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई कमी तो रहती ही है। इसीलिए उसके निवारण के लिए पुरुषार्थ को अवकाश है। कहा भी है—'To err is human'—मनुष्य से गलती हो जाना स्वाभाविक है। गलती करने वाले को प्रेम से सावधान करके क्षमा करने से हृदय साफ रहेगा और परिस्थितियों को समझने का अवसर आएगा। इस तरह जागरूकता और सावधानी रखने का स्वभाव निर्मित होगा।

संसार में सबके मस्तिष्क अलग-अलग हैं। सोचने-विचारने के तरीके अलग-अलग हैं। स्वतन्त्र दृष्टिकोण पर अप्राकृतिक दबाव नहीं होना चाहिए। मनुष्य का हृदय इतना उदार होना चाहिए कि ऐसे अवसरों की उपेक्षा कर दिया करे, हँसकर टाल दिया करे और उस व्यक्ति को क्षमा कर दिया करे, जो अल्पबुद्धि के कारण कोई ऐसा काम कर रहा है, जो आपकी दृष्टि में अनुचित एवं अनपेक्षित है।

संसार के अन्य प्राणियों तथा अन्य देशों-प्रान्तों के लोगों के साथ हमारा बाहर से तो कोई रिश्ता नहीं है, आत्मिक दृष्टि से है भी तो वह प्रेम और सहयोग का है। प्रेम न हो, अल्पविकसित के उत्थान में सहयोग की भावना न हो तो अपने कुटुम्ब का व्यक्ति ही पराया-सा लगता है। फिर इन सम्बन्धों को चिरस्थायी और आत्मिक सम्बन्ध कैसे बना सकेंगे? आपके समीपवर्ती सभी आपकी इच्छाओं के अनुगामी या वशवर्ती तो नहीं बन सकते, तब फिर प्रेम और सहयोग की भावना कैसे रहेगी? उसका एक ही उपाय है—क्षमा। उदारतापूर्वक मानवीय भूलों को क्षमा करते रहने से सामाजिक सम्बन्धों में मधुरता बनी रहती है। जिस व्यक्ति से बार-बार गलतियाँ हो रही हैं, उसे आपकी क्षमा ही सही रास्ते पर ला सकती है।

यदि कोई मनुष्य क्रोध से ही क्रोध को वश में करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। वैर से वैर नहीं जीता जा सकता। शेर को मच्छर काटें और वह यह सोचे कि मैं इन मच्छरों को मार डालूँ तो उसके लिए ऐसा करना असम्भव-सा है। वह थक जाएगा, पर मच्छरों का सफाया नहीं कर सकेगा। इसी तरह क्रोध से क्रोध को जीता नहीं जा सकता। क्रोधी को कोई चाहे जितना उपदेश दे, उससे वह सुधरता नहीं है, वह तो क्षमा से ही सहनशीलता से ही सुधर सकता है।

जेम्स एलन लिखते हैं—"क्षमा न करना और प्रतिशोध लेने की इच्छा रखना अनेक कष्टों के आधार है। जो व्यक्ति इन बुराइयों को पालते रहते हैं, वे जीवन के सुख और आनन्द से वंचित रह जाते हैं। आध्यात्मिक प्रकाश का लाभ नहीं ले पाते। जिसके हृदय में क्षमा नहीं, उसका हृदय कठोर हो जाता है। वह दूसरों से मेल-जोल, प्रेम, प्रतिष्ठा एवं आत्म-संतोष से वंचित रह जाता है। बुद्धिमत्ता और विचारशीलता का तकाजा है कि मनुष्य छोटी-छोटी गलतियों पर क्षमा करने की आदत बना ले।"

आत्मीयता को जीवित रखने अच्छा तरीका यह है कि गलतियों को हम उदारतापूर्वक क्षमा करना सीखें।

टूटे हृदयों को जोड़ने की कला : क्षमा

क्षमा स्नेह की शून्यता को स्नेह से भरना है। क्षमा एवं स्नेह वही दे सकता है, जो स्वभाव से महान् हो; समर्थ हो। लघु और असमर्थ इसीलिए लघु और असमर्थ होता है कि उसमें स्नेह देने की क्षमता नहीं होती। लक्ष्मण ने सुग्रीव से कठोर वचन के लिए क्षमा माँगी—ममत्वं परुषमुक्तः तत् क्षमस्व सखे! मम।" लक्ष्मण असमर्थ नहीं थे। इसीलिए उनके मुँह में क्षमा का स्वर था। इसी दृष्टि से क्षमा का एक अर्थ है—स्नेह की इतनी असीमता, जिसमें कोई भी भूल या अपराध अपनी विशालता प्रदर्शित न कर सके।

क्षमा का शब्दोच्चार ही क्षमा नहीं है; अपितु दूसरों की दुर्बलताओं व अल्पताओं को स्नेह की महान् धारा में विलीन करने की क्षमता को ही क्षमा कहते हैं। इसलिए जैन धर्म के महान् पर्व संवत्सरी पर क्षमा देना और क्षमा माँगना इन दोनों को क्षमा कहा जाता है।

सिंधु-सौवीर के अधिपति उदायन ने उज्जयिनीपति चण्डप्रद्योत से इसी पर्व के अवसर पर क्षमा माँगी थी। एक था बंदी और दूसरा था—बंदी बनाने वाला। एक था पराजित, दूसरा था विजेता। उदायन ने कहा—"महाराज प्रद्योत! आज संवत्सरी पर्व के अवसर पर मैं तुम्हें हृदय से क्षमा करता हूँ, तुम मुझे हृदय से क्षमा करो।"

भगवान महावीर का सिद्धान्त है—क्षमा दे और क्षमा ले, तभी दो व्यक्तियों में मैत्री हो सकती है और मैत्री समानता के धरातल पर ही हो सकती है। इसीलिए चण्डप्रद्योत ने कहा—"क्या कोई बंदी क्षमा दे सकता है?"

उदायन आगे बढ़ा, प्रद्योत को बन्धनमुक्त करके अपने पास बिठा लिया। दोनों के हृदय मैत्री-शृंखला से बँध गये।

क्षमा ही तुम दूसरों को जोड़ती है, तोड़ती नहीं।

वैर का प्रतिशोध वैर से लेने से वैर शान्त नहीं होता, उससे वैर-वृत्ति बढ़ती ही जाती है, वैमनस्य का सिलसिला चलता ही जाता है, दोनों ओर से भय, आशंकाओं, चिन्ताओं की लपटें घिरी रहती हैं, अन्तर में शान्ति और निश्चिन्तता नहीं होती, लेकिन क्षमा माँगना शुरू होने से और प्रतिरोधी द्वारा क्षमा दे देने से वैर नहीं या नहीं शान्त हो जाता है, क्रोध आदि भयंकर ज्वालाएँ आगे नहीं बढ़तीं, शान्ति और निश्चिन्तता आ जाती है।

अशान्ति का मूल : क्षमा का अभाव

समाज में परिवार में दिनोदिन अशान्ति क्यों बढ़ती जाती है? समाज में एक-दूसरे की बात को सहन न करने से, जरा-जरा-सी बात पर गर्म हो जाने से, तुनुकमिजाजी से और जरा-सी बात पर दूसरों को डाँटने फटकारने, ताने मारने, गाली-गलौज करने, उलाहने देने, अपशब्द कहने, व्यंग करने, घृणा या उपेक्षा करने से ही प्रायः अशान्ति बढ़ती है, कलह और क्लेश होते हैं, सास-बहू में महाभारत मचता है। ये सब क्रोध को क्रोध से जीतने के प्रयास के दुष्परिणाम है।

ये सब दोष आवेशवश बुरे नहीं मालूम पड़ते, पर मन-मस्तिष्क और आत्मा पर इनका विषवत् दुष्प्रभाव पड़ता है। ये दोष शरीर और मस्तिष्क को खोखला बनाते हैं, और आत्मा को अपवित्र। इन बुराइयों को भलाई समझकर जो अपनाता है, उसे हर बार यही अनुभव होता है कि दोष, भूल या गलती करने वाला इन शस्त्रों के प्रयोग से कदापि सुधरता नहीं है।

क्षमा से अपराधी का हृदय-परिवर्तन सम्भव

संसार में लूट, चोरी, हत्या आदि बड़े-बड़े गुनाह होते है और हम उन्हें घटाना चाहते है। पर क्या जेल, सजा, मार-पीट या फांसी वगैरह उपायों से अपराध घटे है? नहीं। इसका कारण यह है कि अपराधों का मूल नहीं ढूँढा जाता, सिर्फ दण्ड दिया जाता है। अगर अपराधी के दिल को टटोला जाय और उसे अपनी बात खुलकर कहने के लिए सर्वथा माफी दी जाय, क्षमा दी जाय तो निःसन्देह अपराध अवश्य ही कम होंगे। गुनहगार के हृदय में सद्विचारों की किरण फूटने का अवसर दिया जाय तो उसका हृदय बदल जायगा, वह स्वयं पश्चात्तापपूर्वक अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगेगा। क्षमा हर व्यक्ति के दिल में ऐसी थिरकन पैदा करती है, जिससे बड़ी-बड़ी परिस्थितियाँ भी अदृश्य हो जाती हैं, जैसे प्रचण्ड आग में ऊबड़-खाबड़, गीले, मोटे लक्कड़ जलकर खाक हो जाते हैं।

क्षमा : सहनशीलता

क्षमा का अर्थ सहन करना भी होना है। कोई हमें नालायक, झूठा, अधर्मी आदि कहे तो हमें सोचना चाहिए कि वास्तव में वह किस दृष्टि से हमें वैसा कह रहा है ? अगर किसी न किसी दृष्टिबिन्दु से उसका कहना सच हो तो हमें अपने वे दोष निकालने का प्रयास करना चाहिए, परन्तु दोष प्रगट करने वाले पर रोष करने के बजाय उपकार मानना चाहिए कि वह हमारे हृदय की गन्दगी को मुफ्त में धो रहा है, हमें सावधान कर रहा है। अगर हम गालियों का सीधा अर्थ लें तो वे भी हमारे लिए प्रेरणादायक बन सकती हैं। किसी ने हमें 'अकर्मी' कहा तो हम सोचें कि 'अकर्मी' तो सिद्ध (मुक्त) होते हैं। कोई किसी को 'साला' कहे तो सोचना चाहिए, शीलवान पुरुष के लिए तो सभी स्त्रियाँ बहन-तुल्य ही होती हैं। इस प्रकार गालियों का सीधा अर्थ लें तो हम बहुत-सी मानसिक हिंसाओं से बच सकते हैं, अपनी आत्मा को शान्ति में रख सकते हैं। आत्मा की निष्कलुषता या जिसे आनन्द पाना हो, उसे क्षमाशील बनना चाहिए।

क्षमा : आत्मा का सहज स्वभाव

क्षमा आत्मा का सहज स्वभाव है। क्रोध के आवेश में जब सहनशीलता का अन्त होने लगे, तब यह सोचना चाहिए कि क्रोध से आपको स्वतः खीझ और मानसिक क्लेश तो नहीं होगा ? जीवन अल्प है। अगर हम इसी क्षणिक जीवन को गुस्सा करने, नुक्ताचीनी करने और दूसरों के दोष ढूँढने में ही समाप्त कर देंगे तो फिर आनन्द प्राप्त करने का अवसर कब आएगा ? क्रोध वीरता का लक्षण नहीं है। वीरता का लक्षण है—धैर्य, सहनशक्ति। जो जितना सहन कर सकता है, पचा सकता है, वह उतना ही बहादुर है, उतने ही अंश में आनन्द का उपभोक्ता है। आप मधुरता बरतें, सहनशील बनें तो फिर क्रोध के कारण खिन्नता का अवसर ही नहीं आएगा।

बार-बार सताये जाने, तंग करने या कटु बोलने से अच्छे लोगों के मन में भी बुरे भाव उत्पन्न हो जाते हैं। संकुचित दृष्टिकोण के कारण कई बार ऐसी गलतफहमी हो जाती है, जो दोनों पक्षों या व्यक्तियों के जीवन में कटुता और घृणा की आग पैदा कर देती है। ऐसी हानिकारक परिस्थितियों से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि आपके जीवन में नम्रता, मधुरवाणी और व्यवहार में मधुरता का अभ्यास हो। इससे क्षमा करने की उदारता भी होगी।

क्षमा करने का परिणाम बड़ा अच्छा आता है। अपराधी व्यक्ति को गहराई में अपनी गलतियों पर सोचने का मौका मिलता है। कई बार अपराधी को अपनी भूल पर स्वयं पश्चात्ताप होता है, और उसका हृदय परिवर्तन भी हो जाता है।

अफ्रीका में आलमगीर पठान ने गांधीजी पर प्रहार किया। वे लड़खड़ाकर गिर पड़े। जब होश में आए तो उन्हें कई अंग्रेज मित्रों ने कहा—"आप इस पर मुकदमा चलाइए, हम गवाही देंगे।" पर गांधीजी इससे सहमत न हुए और यही कहा—"मैं उस पर मुकदमा नहीं चला सकता। अज्ञानवश उसने ऐसा किया है। जब वह अपनी गलती समझेगा, तब अपने आप रास्ते पर आ जाएगा।"

वास्तव में हुआ ऐसा ही। गांधीजी की क्षमा का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह गांधीजी के चरणों में गिरकर अपने अपराध के लिए क्षमा मांगने लगा।

यह था क्षमा का अचूक प्रभाव!

इसका अर्थ यह नहीं है कि जो गलती कर रहा है, उसे समझाया न जाए। समझाएँ, और आवश्यकता पड़ने पर आत्मीयतापूर्वक दण्ड भी दें, किन्तु उपयुक्त अवसर पर ही। प्रेम से कही हुई कड़वी बात भी मीठी लगती है। सूर्य की किरणें प्रातःकाल सुहावनी और मधुर लगती हैं, आरोग्य-वर्द्धक होती हैं, लेकिन दोपहर में वे ही प्रचण्ड एवं असह्य हो जाती हैं, और लोगों को बीमार तक कर देती हैं। अतः आवेशपूर्ण स्थिति को टाल दो, और फिर जब उग्रता का वातावरण समाप्त हो जाए तब, या एकान्त में प्रिय व्यक्ति से आत्मीयतापूर्वक मिलो, उसे अपनी बात नम्रतापूर्वक समझाओ। समझाने में परिहास या कटुता न हो तो आपकी बात को समर्थन या सफलता बिलकुल न मिले, यह असम्भव है। कलह और कटुता से तो समस्याएँ उलझ जाती हैं। क्षमा उन परिस्थितियों से तथा आन्तरिक हिंसाओं से बचने तथा हिंसा की परम्परा बढ़ने न देने का उत्तम प्रयास है।

क्षमा विधेयात्मक अहिंसा को तीव्र और विकसित करने का अपूर्व उपाय है। जो क्षमाशील है, उसके लिए संसार में कोई शत्रु नहीं, भय नहीं, अन्तर्द्वन्द्व नहीं।

सह-अस्तित्व की उदात्त भावना

सह-अस्तित्व क्या और क्यों?

सह-अस्तित्व भी अहिंसा का एक विधेयात्मक रूप है। सह-अस्तित्व

के मूल में भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना निहित है। इन भावनाओं के बिना सह-अस्तित्व बिना नींव का महल है। सह-अस्तित्व का अभिप्राय है—हम अपने जीवन की तरह दूसरों के जीवन का भी आदर करें, दूसरों के सुख-दुःख का भी ध्यान रखें, साथ मिलकर चलें, मिलकर बैठें, मिलकर समस्याओं को हल करें।

इस संसार में सभी प्राणियों के जीवन का उद्देश्य है—अपने अस्तित्व को किसी तरह टिकाए रखना और सम्मानपूर्वक जीना। अनेक कार्य ऐसे होते हैं कि अकेला व्यक्ति या उसका परिवार मिलकर उन कार्यों को नहीं कर सकता। कई बार व्यक्ति को संकट, उपद्रव, भय, विपत्ति आदि के समय दूसरे की जरूरत पड़ती है। कई दफा एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त की, एक नगर को दूसरे नगर की, एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की मदद की अपेक्षा होती है। कई बार दूसरे देशों के वैज्ञानिकों या विशेषज्ञों से ज्ञान-विज्ञान में सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। बाढ़, भूकम्प, सूखा या अन्य किसी उपद्रव के अवसर पर दूसरे प्रान्त या केन्द्र से सहायता की अपेक्षा रहती है। चोर-डाकुओं के संकट के समय आत्मरक्षा के लिए पुलिस या अन्य नागरिकों से सहयोग की आवश्यकता रहती है। ऐसे संकट या उपद्रव के समय जाति, प्रान्त, भाषा, धर्म-सम्प्रदाय, कुल, राष्ट्र आदि के भेदों को बीच में लाकर सहायता की अपेक्षा रखने वाले को सहायता न देना हिंसा है। इसी हिंसा को रोकने हेतु सह-अस्तित्व है।

सह-अस्तित्व का नारा है—परस्पर विचारों में भेद है, कोई हर्ज नहीं; कार्य-पद्धति भिन्न है, कोई खतरा नहीं; सोचने का तरीका अलग है, भाषा दूसरी है, प्रान्त एवं रहन-सहन भिन्न है, कोई आपत्ति नहीं। पोशाक, शरीर एवं धर्म-सम्प्रदाय भले ही भिन्न हों, पर हमारे मन एक हों, हमारे सुख-दुःख एक से हैं, हमारी समस्याएँ समान हैं। हम सब मानव हैं, साथ-साथ रह सकते है, बिगड़कर या बिखरकर नहीं।

वैदिक ऋषि द्वारा दिया गया सह-अस्तित्व का मंत्र इस प्रकार है—

सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनाऽवधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥

—हम सब एक दूसरे की रक्षा करें, हम प्राप्त साधनों का साथ-साथ उपभोग करें, हम साथ-साथ पराक्रम करें, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥

अहिंसा, (२) सामाजिक अहिंसा, (३) नैतिक अहिंसा और (४) आध्यात्मिक अहिंसा।

ये चारों प्रकार की अहिंसाएँ एक दूसरी की सापेक्ष हैं। चारों का लक्ष्य अहिंसा की ओर रहेगा। इन चारों अहिंसाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि रहती है और चारों में उत्तरोत्तर अहिंसा पालन की जिम्मेदारी अधिक है।

अगर राजनैतिक अहिंसा का पालन नहीं होगा, तो सामाजिक-नैतिक अहिंसा के पालन में आँच आएगी। राजनैतिक अहिंसा में राज्य वृद्धि की दृष्टि से किसी देश या क्षेत्र पर आक्रमण नहीं होगा, राजनैतिक पंचशील का पालन सभी राष्ट्र करेंगे, तथा शासन-प्रणाली लोकतंत्रीय होगी, जो अहिंसा के निकट है। राष्ट्र-द्रोही, अपराधी, उपद्रवी आदि को कानूनन दण्ड देने का अधिकार शासक को होगा, दूसरे राष्ट्र द्वारा आक्रमण होने पर सशस्त्र प्रत्याक्रमण करना पड़े तो भी उसके पीछे कोई द्वेष, स्वार्थ आदि नहीं होंगे।

सामाजिक अहिंसा में निरपराधी स्थूल त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा न करने की मर्यादा होगी। आरम्भजा, उद्योगजा और विरोधिनी हिंसा में भी विवेकपूर्वक मर्यादा का पालन होगा। यद्यपि सामाजिक अहिंसा की मर्यादा में मनुष्य अपने जान, माल, शील आदि की रक्षा के लिए सशस्त्र प्रतीकार तक कर सकता है किन्तु अगर सामाजिक जन-संगठन हो तो उसके माध्यम से शुद्धि-प्रयोग—सामूहिक सत्याग्रह प्रयोग द्वारा भी अहिंसक ढंग से प्रतीकार हो सकता है। व्रती श्रावक के लिए यही अहिंसा उपयुक्त है।

नैतिक अहिंसा लोकसेवकों (व्रतबद्ध) के लिए है। वे शस्त्र छोड़कर हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया अपनायेंगे। अपराधी के प्रति व्यक्तिगत पूर्वाग्रह, द्वेष, वैर-विरोध न रखकर उनके हृदय-परिवर्तन हेतु स्वयं उपवास पर रहेंगे, स्वयं मौनभाव से विधिपूर्वक शुद्धि प्रयोग करेंगे। जहाँ दंगे, उपद्रव, झगड़े हो रहे हों, वहाँ भी अहिंसक कार्यक्रमों का आयोजन करेंगे।

आध्यात्मिक अहिंसा पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वियों के लिए है। वे अपनी मर्यादा में रहते हुए अहिंसा का सर्वथा पालन करेंगे, तथा प्रथम तीनों कोटि के संगठनों व व्यक्तियों को उन-उनकी भूमिका के अनुसार अहिंसा-पालन करने की प्रेरणा देंगे। जहाँ-जहाँ हिंसा हो रही हो, वहाँ-वहाँ अहिंसा के कार्यक्रमों द्वारा उसे बंद कराने का प्रयास करेंगे। विश्व के सभी मानव-क्षेत्रों के सवाल अहिंसा की दृष्टि से हल करने के सुझाव देंगे।

की परिस्थिति को समझने की कोशिश नहीं करता, शस्त्रों की ताकत और गुटों का दबाव जिसके पास अधिक होता है, वही दूसरे पर हावी हो जाता है। न्याय किसके पक्ष में यह नहीं देखा जाता। वैचारिक अहिंसा का सहारा लिया जाय तो ये मानसिक और कभी-कभी प्रत्यक्ष हिंसाएँ उभरनी बंद हो जायँ और परिवार, समाज एवं राष्ट्र में सुख-शान्ति व्याप्त हो जाय।

बहुत विस्तृत रूप से मैंने आपके सामने अहिंसा के विविध रूपों की चर्चा की है। आप इन सब पर मनन करके अहिंसा के तथ्यों को हृदयंगम करने का प्रयत्न करिये। □□

है कि सत्य क्या है, असत्य क्या है? ऐसा अबोध बालक माता-पिता या परिवार-परम्परा से प्राप्त हुए सत्य को ही सत्य समझता है, वह नहीं जानता कि अन्धविश्वास को सत्य के नाम से उसे पकड़ा दिया गया है। अतः बालक के बिना समझे-बूझे सत्य बोलने का क्या महत्त्व है? क्या वह सत्य व्रत की कोटि में आ सकता है? क्या उसे चारित्र या कर्मबन्धन रोकने वाला सत्य कहा जा सकता है? कदापि नहीं।

अगर इस प्रकार बे-समझी से बोले हुए या आचरित किये हुए सत्य को ही सत्य समझा जाय, तब तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी सत्यवादी या सत्याचरणी की कोटि में परिगणित किये जा सकेंगे। क्योंकि कीट-पतंग या पशु-पक्षी आदि कुछ भी नहीं बोलते, वे मनुष्यों की अपेक्षा दूसरे प्राणियों को कम सताते हैं, किसी के साथ असत्य का—छल-कपट का व्यवहार उनके जीवन में प्रायः दिखाई नहीं देता। ऐसी हालत में क्या उन्हें सत्यवादी या सत्याचरणी कहा जा सकेगा? कदापि नहीं; क्योंकि उन्होंने सत्य का स्वरूप समझा ही नहीं है, और असत्य का स्वरूप समझकर उसका मन से त्याग भी नहीं किया है। अतः घुणाक्षरन्याय से आचरित उनका सत्य भी सत्य की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकेगा।

इस प्रकार से सत्य को समझे बिना और समझदारी से हार्दिक इच्छा के बिना असत्य का त्याग करने पर समाज को केवल एक फीसदी फायदा पहुँचता है; जबकि सत्य को समझकर तथा स्वेच्छा से असत्य को छोड़ने से सत्य को २०-३० फीसदी फायदा पहुँच सकता है। सत्य को समझे बिना सच बोलना नदी के पानी में डाली हुई मिश्री की मिठास के बराबर है। केवल सच बोलना और चीज है, और सत्य को समझना कुछ और बात है।

सत्य को कैसे समझा जाय?

प्रश्न होता है, सत्य को समझा कैसे जाय? किसी प्रकार का कांक्षा, स्वार्थ, लोभ, अन्धविश्वास, अविद्या आदि को हृदय में स्थान न देकर ही सत्य को समझा जा सकता है। जब अविद्या की घटाएँ मन के आकाश पर छा जाती हैं, तो मनुष्य अपने भाई से भी घृणा करने लगता है, उसे अपना ही पराया मालूम होने लगता है। वह खूँख्वार पशु बनकर उसके खून का प्यासा बन जाता है। जब अन्धविश्वास का पर्दा मनुष्य के मन पर पड़ जाता है, तब वह अंधेरे में ही कल्पना का भूत खड़ा कर लेता है। बच्चा जब पैदा हुआ था, तब उसके मन में उतना डर न था, अंधे-

पराये का ज्ञान भी न था, बड़े होने पर माता-पिता आदि ने अपने-पराये का ज्ञान कराया तब हिंसा, घृणा आदि के विचार अपने-आप उनके मन में दाखिल होने लगे।

हाँ, तो यह अविद्या ही सत्य को ठीक तरह से समझने नहीं देती। सत्य को भली-भाँति समझने के लिए मनुष्य को सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की अग्नि में अविद्या को भस्म करना पड़ता है, तभी हृदय में सत्य का सूर्य उदित होता है।

सत्य का व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ

सत्य का व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से अर्थ होता है—

'कालत्रये तिष्ठतीति सत् तस्यभावः सत्यम्'

अर्थात् जो तीनों काल में विद्यमान रहे, एक रूप रहे, वह सत् कहलाता है, उसका भाव है—सत्य। सत्य यानी होना। सत् से सत्य बना है, जिसका अर्थ है—'है-पन'। जैसे नमक की डली और नमक दोनों अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं, वैसे ही सत् और सत्य दोनों एक ही हैं। सत् वस्तु सत्य से व्याप्त है, सत् में सत्य ओतप्रोत है। सत् और सत्य दोनों में भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। सत् का अर्थ है—विद्यमान, नित्य, स्थायी। वह जिस विद्यमानता—है-पन से पूर्ण व्याप्त है, वही सत्य है।

जो स्वयं तीनों काल में रहे, जिसके अस्तित्व के लिए दूसरे की अपेक्षा न रहे, उसका नाम सत्य है। सत्य स्वयं विद्यमान रहता है, उसके ही आधार पर अन्य सारी चीजों का अस्तित्व निर्भर है। सत्य के लिए किसी दूसरे के आधार की जरूरत नहीं है।

संसार में कोई भी वस्तु या स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ सत्य न हो। जिस वस्तु में सत्य नहीं है, वह वस्तु किसी काम की नहीं रह जाती। जैसे दूध में सत्य वस्तु घृत है, अग्नि में सत्य वस्तु उष्णता है, सूर्य में सत्य प्रकाश, है, तिल में तैल है और पुष्प में गन्ध है। अगर दूध में से घृत निकल जाय तो कोई उसे दूध न कहेगा, इसी प्रकार अग्नि में से उष्णता, सूर्य में से प्रकाश, तिल में से तैल आदि निकल जाय तो कोई उसे अग्नि, सूर्य या तिल आदि नहीं कहेगा। तात्पर्य यह है कि जिसके होने पर किसी वस्तु, विचार या कार्य आदि के नाम, रूप तथा गुण में परिवर्तन न हो सके, तथा जिसके न रहने पर ये तीनों या इनमें से कुछ बातें बदल जाएँ, उस स्वाभाविक एवं वास्तविक वस्तु का नाम सत्य है। इसी अर्थ को महाभारत में द्योतित किया है—

'निर्विकारितयं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत!'

है। गलती को गलती के रूप में अनाग्रहपूर्वक स्वीकार कर लेना ही सत्य दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि की भूमिका है। सम्यग्दृष्टि असत्य को असत्य जानने के बाद फिर उस असत्य के प्रति आग्रहशील नहीं रहता। इसलिए जहाँ सत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य है, जबकि जहाँ सत्य की दृष्टि नहीं है, वहाँ सत्य नहीं है।

सत्य या असत्य कहीं किसी शास्त्र, भगवान् या पुस्तकादि पदार्थ में नहीं रखा हुआ है कि वहाँ से उसको ग्रहण किया जा सके। सत्य या असत्य तो मनुष्य की दृष्टि में है। अगर देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति मनुष्य की दृष्टि यथार्थ नहीं है, तो चाहे भगवान महावीर जैसे देव हों, गौतम जैसे गुरु हों, उत्तम धर्म हो, तथा आचारांग आदि जैसे उत्तम शास्त्र हों, फिर भी दृष्टि विपरीत होने के कारण वे सब असत्य के रूप में परिणत होंगे। मनुष्य की दृष्टि ही एक ऐसा साँचा है, जिसमें सत्य और असत्य की ढलाई होती है। दृष्टि में ही वह जादू है कि वह विष को अमृत और अमृत को विष बना सकती है।

भगवान महावीर के पास गौतम जैसे उच्चकोटि के सत्य दृष्टि वाले साधक भी आये और गोशालक जैसे विपरीत दृष्टि वाले साधक भी आए। गौतम जैसों ने भगवान महावीर से चमक प्राप्त की, वे उनके लिए सच्चे देव (सत्य) हुए, जबकि गोशालक आदि के लिए असत्य (मिथ्या देव) बन गए। इसी प्रकार नन्दीसूत्र में एक निर्णय दिया गया है कि जिसकी दृष्टि सत्यग्राही है, उसके लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक् श्रुत (शास्त्र) बन जाते हैं और जिसकी दृष्टि मिथ्या (विपरीत) ग्राही है उसके लिए आचारांगसूत्र आदि सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र भी मिथ्या-शास्त्र बन जाते हैं।[1]

आशय यह है कि वस्तु तो निमित्तमात्र है। चाहे शास्त्र हो, वाणी हो, या व्यक्ति हो, सभी निमित्त हैं। सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि ही सब कुछ है। व्यक्ति के मन या कैमरा जैसा होता है, वैसी ही तस्वीर खिंच जाती है। मन या कैमरा साफ है, तो तस्वीर साफ आएगी और मैला है तो तस्वीर भी गलत आएगी। उस हालत में वह सत्य की रोशनी प्राप्त नहीं कर सकेगा। किसी भगवद्वाणी, गुरु, शास्त्र या भगवान् के रूप में जैन धर्म सत्य-असत्य का निर्णय नहीं करता, वह कहता है साधक की अपनी दृष्टि ही

---

१. एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहत्तेण सम्मसुयं।
मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहत्तेण मिच्छासुयं॥ —नन्दीसूत्र

है। गलती को गलती के रूप में अनाग्रहपूर्वक स्वीकार कर लेना ही सत्य-दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि की भूमिका है। सम्यग्दृष्टि असत्य को असत्य जानने के बाद फिर उस असत्य के प्रति आग्रहशील नहीं रहता। इसलिए जहाँ सत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य है, जबकि जहाँ सत्य की दृष्टि नहीं है, वहाँ सत्य नहीं है।

सत्य या असत्य कहीं किसी शास्त्र, भगवान् या पुस्तकादि पदार्थ में नहीं रखा हुआ है कि वहाँ से उसको ग्रहण किया जा सके। सत्य या असत्य तो मनुष्य की दृष्टि में है। अगर देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति मनुष्य की दृष्टि यथार्थ नहीं है, तो चाहे भगवान महावीर जैसे देव हों, गौतम जैसे गुरु हों, उत्तम धर्म हो, तथा आचारांग आदि जैसे उत्तम शास्त्र हों, फिर भी दृष्टि विपरीत होने के कारण वे सब असत्य के रूप में परिणत होंगे। मनुष्य की दृष्टि ही एक ऐसा साँचा है, जिसमें सत्य और असत्य की ढलाई होती है। दृष्टि में ही वह जादू है कि वह विष को अमृत और अमृत को विष बना सकती है।

भगवान महावीर के पास गौतम जैसे उच्चकोटि के सत्य दृष्टि वाले साधक भी आये और गोशालक जैसे विपरीत दृष्टि वाले साधक भी आए। गौतम जैसों ने भगवान महावीर से चमक प्राप्त की, वे उनके लिए सच्चे देव (सत्य) हुए, जबकि गोशालक आदि के लिए असत्य (मिथ्या देव) बन गए। इसी प्रकार नन्दीसूत्र में एक निर्णय दिया गया है कि जिसकी दृष्टि सत्यग्राही है, उसके लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक् श्रुत (शास्त्र) बन जाते हैं और जिसकी दृष्टि मिथ्या (विपरीत) ग्राही है उसके लिए आचारांगसूत्र आदि सम्यक् कहे जाने वाले शास्त्र भी मिथ्या-शास्त्र बन जाते हैं।'

आशय यह है कि वस्तु तो निमित्तमात्र है। चाहे शास्त्र हो, वाणी हो, या व्यक्ति हो, सभी निमित्त हैं। सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि ही सब कुछ है। व्यक्ति के मन का कैमरा जैसा होता है, वैसी ही तस्वीर खिंच जाती है। मन का कैमरा साफ है, तो तस्वीर साफ आएगी और मैला है तो तस्वीर

[illegible]। उस हालत में वह सत्य की रोशनी प्राप्त नहीं कर

[illegible], गुरु, शास्त्र या भगवान् के रूप में जैन धर्म

[illegible]

सत्य या असत्य के रूप में उसे ग्रहण करके ही सत्य या असत्य का निर्णय करती है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

> यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
> तदनृतमपि विज्ञेयं तद्‌भेदाः सन्ति चत्वारः ॥

—प्रमाद (मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथारूप) के योग से जो कुछ मन, वचन और काया के योग से असत् सोचा, बोला या किया जाता है, वह असत्य है । इसके विपरीत जहाँ यथार्थ दृष्टि से समझ-बूझकर सत्य सोचा, बोला या किया गया हो, वह सत्य है।

द्वितीय अर्थ : सत्य और तथ्य

सत्य और तथ्य में भी भेद है। तथ्य यथार्थ कथन तो होता है, किन्तु उसके पीछे दृष्टि स्पष्ट नहीं होती। तथ्य में सत्य का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता, इसलिए कई बार तथ्य भी असत्य (शास्त्रीय दृष्टि से) हो जाता है। तथ्य में कई बार लोभ, मोह, प्रदर्शन, छल, बनावट, दिखावट आदि छिपे रहते हैं। इस दृष्टि से सत्य का अर्थ तत्त्व होता है। इसी के अन्तर्गत एक और अर्थ, वेद में किया गया है, वह है 'ऋतम्'। सृष्टि के नियम अथवा किसी भी महाकार्य के विधान को भी ऋत् यानी सत्य कहते हैं। सत्य से ही सूर्य उदय होता है, सत्य से ही पृथ्वी विश्व (सब) को धारण करती है, सत्य से ही लोक चलता है। सत्य ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है। इत्यादि वाक्यों में सत्य का अर्थ अनुल्लंघनीय नियम होता है।

निष्कर्ष यह है कि जिसकी दृष्टि में मिथ्यात्व की मलिनता है, अज्ञान या गाढ़ अँधेरा है, जिसकी वृत्ति में कषायादि दुर्भाव है, प्रमाद है, विवेक की भूमिका नहीं है, उसके मुँह से निकला हुआ, मन से सोचा हुआ या आचरण में लाया हुआ सत्य भी वास्तव में सत्य नहीं है। दुर्भाग्य से कोई व्यक्ति काना या अंधा हो गया, उसे काना या अंधा कहना स्थूल दृष्टि से देखने वाले को तो सत्य प्रतीत होता है लेकिन आगम एवं निश्चय दृष्टि से सत्य नहीं है क्योंकि उसके पीछे कहने वाले की भावना सत्य को अभिव्यक्त करने की नहीं, अपितु प्रायः दूसरे को चिढ़ाने, उसका दिल दुखाने और उसे बदनाम करने की होती है। उस वचन में व्यंग और घृणा निश्चित होती है। उसकी हीनता प्रकट करके कहने वाला अपनी महत्ता प्रदर्शित करना चाहता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में भगवान महावीर ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

पूजा है।[1] भगवान् की आज्ञा क्या है ? सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि व्रतों का यथार्थ रूप से परिपालन करना। कहीं आज्ञा के विषय में किसी साधक के मन में सन्देह हो जाय, वहाँ एक निर्णय सूत्र भाष्यकार आचार्यों ने साधकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है—

"एसा तेसिं आणा, कज्जेसच्चेण होतव्वं।"

वीतराग भगवन्तों की यह आज्ञा है कि साधक के प्रत्येक कार्य में सत्यता होनी चाहिए। जो भी कार्य जिस रूप में घटित हुआ हो, उसे उसी रूप में सत्यता के साथ प्रगट करना चाहिए।

हाँ तो आज जो जनसाधारण के मन में ईश्वर, भगवान् खुदा या परमात्मा को केवल ऊपर-ऊपर से रिझाने और खुश करने की वृत्ति चल रही है, परन्तु उस परमपिता प्रभु की सत्यादि के आचरण करने की जो आज्ञाएँ ठुकरा दी जाती हैं, उसका मुख्य कारण क्या है ? मेरी समझ से इस विसंगति के मूल में सत्य को जीवन में स्थान न देना ही रहा है।

भगवान् महावीर के युग में भी साधारण जनता ईश्वर या प्रभु के रूप में किसी एक व्यक्ति को प्रसन्न करने और उसकी पूजा, उपासना या भक्ति करने में अपना समय शक्ति और साधन सर्वस्व व्यय करती थी। उसी परमात्मा को खुश करने के लिए कभी उलटा और कभी सीधा रास्ता अपना लेती थी। परन्तु भगवान् महावीर ने उन लोगों के जीवन में विसंगति का पता लगाया, बहुत गहराई से अनुभव करने के पश्चात् उन्होंने बतला[illegible] वह भगवान् तो सत्य ही है। उसी की उपासना, सेवा, पूजा अ[illegible] करो, उसी की अर्चा करो, वही भगवान् [illegible] प्रवृत्ति, साधना या आराधना करन[illegible] करो। सत्य होगा तो प्रभु की [illegible] क्योंकि जितने भी वीतराग, तीर्थंकर, [illegible] की पूजा करके ही उच्च पद पर पहुँचे [illegible]

जो व्यक्ति सत्य को छोड़कर ई[illegible] करने में प्रयत्नशील हुआ है, वह सफल [illegible] भटकता रहा है। जैसे पिता की सत्कार्य [illegible] किन्तु केवल पिता को प्रणाम करने [illegible] हो सकता, वैसे ही परमपिता प्रभु को [illegible] केवल गुणगान या प्रशंसा करके [illegible] वह प्रसन्न नहीं हो सकता।

---

१. तव सपर्या तवाज्ञापरिपालनम्

इसीलिए संत मुक्तेश्वर ने कहा—'सत्या परता नांही धर्म, सत्य तेंच 'परब्रह्म' सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। सत्य ही परब्रह्म है।

प्राचीनकाल में बहुत-से लोग ईश्वर एवं भगवान् को ढूँढने के लिए जंगलों की खाक छानते थे, पहाड़ों, नदियों एवं गुफाओं में भटकते फिरते थे, भगवान् के दर्शन के लिए नाना प्रकार के कष्ट सह लेते थे, किन्तु अपने जीवन में सत्य, अहिंसा आदि को अपनाने का कोई विचार नहीं करते थे। किन्तु भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान् बताकर अपने ही भीतर खोजने की प्रेरणा दी थी। उन्होंने कहा कि सत्य अपने ही अन्दर छिपा है, उसे कहीं बाहर ढूँढने की जरूरत नहीं है। जब तक अन्दर का भगवान् नहीं जागेगा, भीतर सत्य की झांकी नहीं होगी, तब तक कदापि और कहीं भी ईश्वर की झाँकी नहीं पा सकोगे।

पाश्चात्य विचारक पालसन की उक्ति है—'भगवान् का प्रतिबिम्ब यदि मनुष्य की अन्तरात्मा में चमकता है तो उसका रूप सत्य, प्रेम और न्याय से सम्मिश्रित होता है।' संत सेल्वियो बेलिको ने भी इसी बात का समर्थन किया है—'ईश्वर से प्रेम करना और सत्य से प्रेम करना एक ही बात है।' महात्मा गांधी ने सत्य को ही ईश्वर माना था। ईश्वर के प्रति वफादार रहने के लिए वे सत्य का वफादारीपूर्वक पालन करना आवश्यक मानते थे। दार्शनिक प्लेटो के मतानुसार वे 'सत्य को ईश्वर और उसके प्रतिबिम्ब को प्रकाश' कहते थे। शेखसादी की यह उक्ति उनके दिल में भली भाँति बैठ गई थी कि 'ईश्वर को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग सत्य को अपनाना है। जो सचाई के मार्ग पर चलता है, वह कभी भटकता नहीं।'

परन्तु आज यह देखा जाता है कि लोग सत्य को ताक में रखकर ईश्वर की तलाश में भटकते है, कभी भगवान् को और कभी गुरुजी को प्रसन्न करने की चेष्टाएँ करते हैं परन्तु सत्य और अहिंसा को अपनाकर अपना एवं परिवार का निर्माण नहीं करते, समाज के भव्य निर्माण के लिए कुछ नहीं करते। इसीलिए एक साधक ने कहा—

ढूंढन चाला ब्रह्म को, ढूंढ फिरा सब ढूंढ।
जो तू चाहे ढूंढना, इसी ढूंढ में ढूंढ।

अगर तुझे ईश्वर को ढूँढना है तो बाहर ढूँढने से वह नहीं मिलेगा। ईश्वर को ढूँढना है और सत्य की झांकी अपने जीवन में करनी है तो सबसे बड़ा मन्दिर यह तेरा ढूँढ (शरीर) है, उसी में सत्य के रूप में ईश्वर विराजमान है। शरीर में जो आत्मा निवास करती है, वही सबसे बड़ा देवता है। उसे ढूँढ लेने पर ईश्वर को अन्यत्र कहीं ढूँढने की जरूरत नहीं रहेगी।

इन सब के अनुभवों का निष्कर्ष यह है कि सत्य ही आत्मा है, यही अन्तरात्मा है, यही परमात्मा है और यही विश्वात्मा है।

सत्यनिष्ठा ही सत्य भगवान की पूजा

कई बार सत्यार्थी भ्रम में पड़ जाता है, जब कि उसके सत्य की प्रतीति और अन्य बहुसंख्यक लोगों के द्वारा हुई सत्य की प्रतीति में अन्तर पड़ जाता है। वास्तव में उपनिषद् के कथनानुसार 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'—सत्य एक ही है, विद्वान लोग उसे भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त करते हैं। एक ही सत्य (परमात्मा) सब देहों में प्रकट होता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का आधार मन प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार का होने से वह अनेक रूपों में प्रकट होता है। सूर्य एक ही है, किन्तु जितने और जैसे जल-पात्र होंगे, उतने और वैसे ही उसके प्रतिबिम्ब दिखाई देंगे। इसी प्रकार मन की अनन्त भूमिकाओं के अनुसार सत्य भी अनन्त रूपों में प्रकट होता है। कभी-कभी परस्पर भिन्न और विरोधी सत्य दिखाई देने पर भी हृदय में शंका नहीं करनी चाहिए।

जैन धर्म का अनेकान्तवाद ऐसा निर्मल प्रकाश है जो विभिन्न और विरोधी दिखाई देने वाले सत्यों को सापेक्ष दृष्टि से दिखाकर उनका समन्वय कर पूर्ण सत्य के दर्शन करा देता है।

यह प्रतिदिन का अनुभव है कि एक को जो सत्य लगता है, वह दूसरे को असत्य लगता है। इसका कारण हर एक व्यक्ति की भूमिका का अन्तर है। जो व्यक्ति आज जिसे असत्य कह रहा है, वह उसे ही भूमिका बदलने पर सत्य कहने लगता है। अहिंसा को लोग एक दिन ठीक नहीं समझते थे, इसकी आलोचना किया करते थे; वे ही लोग आगे चलकर स्वतः इस पर श्रद्धा करने लगे। इसलिए हमें अनेकान्त एवं सापेक्ष दृष्टि से वस्तु के हर पहलू और हर भूमिका व अपेक्षा से देखने-सोचने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर आपका प्रयत्न शुद्ध होगा, भीतरी सत्य की प्रेरणा के अनुसार ही चलने का निश्चय होगा तो हृदय में वास्तविक सत्य स्वतः प्रतिबिम्बित हो जाएगा, विरोधी दिखाई देने वाली बात भी सापेक्ष दृष्टि से सत्य प्रतीत हो जाएगी।

अगर प्रतिक्षण यह जागृति हो, भान रहता हो कि परमात्मा मेरे अन्दर है, वह सब देख रहा है, तो इसके अभ्यास से सत्यार्थी सत्यदर्शन के समीप रहता है। सत्यार्थी एकनिष्ठ—एकविध—अनन्यनिष्ठ होना चाहिए। भीतर से सत्य-परमात्मा की शरण लेने वाले साधक में सच्ची निष्ठा होनी चाहिए, तब उसका जो सत्याधीन चिन्तन होगा, वह मुक्त एवं व्यापक

होगा। सत्यशरणता के अभाव में जो चिन्तन होगा, वह स्वच्छन्द, अधोगामी और इन्द्रियाधीन होगा। उसमें फिसलने की पूरी सम्भावना है। इसलिए सत्यनिष्ठा और मुक्त-चिन्तन ये दो श्रेष्ठ पंख हैं, जिनके सहारे सत्य साधक जीवनाकाश में निर्भय विचरण कर सकता है, और तब उसका जो भी चिन्तन होगा, वह सत्य चिन्तन होगा, सत्य के हाथ में लगाम हो तो फिर मन का घोड़ा चाहे जितना दौड़े, ठीक ही रास्ते पर दौड़ेगा; राह मे भटकेगा नहीं। सत्यनिष्ठा के कारण चिन्तन के लिए दूसरे किसी आश्रय की जरूरत नहीं रहती। गांधीजी सत्यनिष्ठ थे। इसलिए वे जीवन के हर क्षेत्र के सम्बन्ध में सत्य के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करते थे। उनका चिन्तन-क्षेत्र बहुत विशाल था। राजनीति, धर्म, समाज, अर्थ, शिक्षा, संस्कृति, उद्योग, नीति, भाषा और आरोग्य आदि किसी भी क्षेत्र का, अपने से विरोधी विचार वाले व्यक्ति का भी प्रश्न होता, वे उस पर सत्यनिष्ठा (सापेक्षवाद की दृष्टि) से चिन्तन करते थे। क्योंकि सत्यनिष्ठापूर्वक चिन्तन ही सत्य भगवान की पूजा है।

पहले बताया गया था कि सत्य एक होने पर भी अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है, फिर भी सत्यनिष्ठ व्यक्ति घबराता नहीं, वह अनेकान्त दृष्टि से उनमें सामंजस्य बिठाता है, समन्वय करता है। जैसे वृक्ष एक होता है, उसके पत्ते असंख्य होते हैं। ऐसी स्थिति में वृक्ष का स्वरूप यह होता है कि वृक्षत्व की दृष्टि से वह एक है, किन्तु पत्तों की दृष्टि से अनेक है। उसी प्रकार सत्य में एकत्व और नानात्व दोनों धर्म होते हैं। मूल में सत्य एक है। सत्य की दृष्टि से एकत्व है, पर मन की दृष्टि से नानात्व है। मन अनेक हैं, उनकी भूमिकाएँ भी अनेक हैं। इसलिए हृदय की प्रेरणा से सत्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

इसी बात को दूसरे दृष्टान्त से समझिए। वीतराग परमात्मा परमात्मत्व की दृष्टि से तो एक है, परन्तु भिन्न-भिन्न भक्तों को वह अलग-अलग रूप में भासित होते हैं। कोई भक्त राम को परमात्मा मानता है, कोई भगवान् महावीर को, ऋषभदेव आदि को परमात्मा मानता है। इसी प्रकार सत्य-स्वरूप परमात्मा एक होने हुए भी मनोभूमिका के भेद से अनेक रूपों में भक्त उसे मानते हैं, उसकी उपासना करते हैं। यदि एक अपेक्षा से विचार किया जाय तो सत्य और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। सत्य ही परमात्मा का रूप है। इसीलिए, जैसे ईश्वर-भक्त के लिए जो नियम लागू होते हैं, वे ही नियम सत्य-भक्त के लिए लागू होते हैं। जैसे भक्ति का सम्बन्ध परमात्मा के साथ है, वैसे ही सत्य का सम्बन्ध आचार-धर्म के साथ,

दैनिक जीवन के साथ होता है। सत्य को भगवान् मानकर उसी की प्रेरणा के अनुसार सत्यनिष्ठ व्यक्ति को अपना जीवन बिताना चाहिए।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति को अन्तःप्रेरणा

सत्यनिष्ठ पुरुष को जिस समय जो सत्य प्रतीत हो, उसी के अनुसार उसे आचरण करना चाहिए क्योंकि उसका संकल्प ही वैसा है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति का हृदय निर्मल, निश्छल, निःस्वार्थ एवं निष्काम होगा तो उसकी मनोभूमिका भी उतनी ही उच्च होगी, और तदनुरूप उसे अन्तर्यामी शुद्ध आत्मा—सत्य-परमात्मा की प्रेरणा स्वतः ही मिलती रहेगी। मन के दर्पण पर सत्य का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। जैसा दर्पण होगा, वैसा ही प्रतिबिम्ब होगा प्रतिबिम्ब की स्पष्टता-अस्पष्टता मन की शुद्धता-अशुद्धता पर निर्भर होगी। इसलिए सत्यार्थी को अपने हृदय को स्वच्छ रखते हुए अपनी भूमिका के अनुसार भीतरी सत्य अन्तरात्मा की जैसी आवाज हो, जिस प्रकार की प्रेरणा मिले, तदनुसार चलने में कोई दोष नहीं है; बल्कि सत्य भगवान के प्रति उसका यह कर्त्तव्य है। उसके अनुसार न चलना ही असत्याचरण माना जाएगा। यदि वह अन्तःकरण को स्वार्थ, मोह, दम्भ आदि से लिप्त कर फिर सत्य परमात्मा की आवाज या संकेत को प्राप्त करना चाहेगा, तो उसे सत्य के दर्शन नहीं हो सकेंगे तथा उसकी सत्य के प्रति वफादारी या भक्ति दोषयुक्त हो जाएगी। ऐसे व्यक्तियों को जो माया आदि के वश होकर, इन्द्रियाधीन बनकर चलेंगे, उन्हें भीतरी सत्य की आवाज स्पष्ट नहीं सुनाई देगी, उन्हें अन्तःप्रेरणा नहीं मिलेगी। निष्कर्ष यह है कि सत्य भगवान की पूजा के लिए अपने हृदय को स्वच्छ—स्वार्थ, माया, लोभ आदि से रहित रखना बहुत आवश्यक है।

सत्य-[illegible] के लिए [illegible] का आवश्यक

यहाँ एक शंका उठाई जा सकती है कि लोभ (संज्वलन) तो दसवें गुणस्थान तक चलता है, और ग्यारहवें गुणस्थान तक मोह भी उपशान्त दशा में रहता है, इससे पहले तो क्रोध, मान, माया भी कुछ अंशों में रहते हैं इसलिए हृदय पूर्णतया स्वच्छ व निर्मल नहीं होता, [illegible] दशा में उसे जो अन्तःप्रेरणा होगी, [illegible] भीतरी सत्य की आवाज होगी, [illegible]

प्रति वफादार रहकर करते रहना चाहिए। प्रयत्न शुद्ध होगा तो गलत प्रेरणा अधिक समय तक नहीं टिकेगी। प्रेरणा में जो गलत अंश होंगे, वे उसे शीघ्र ही दृष्टिगोचर हो जायेंगे।

वस्तुतः सत्य-शोधक को हमेशा आभ्यन्तर तप करते रहना चाहिए। उसे प्रज्ञा एवं अज्ञान परीषह भी समभाव से सहना चाहिए। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति विनय करना भी उसे आवश्यक है। वह जरा-सी भी देह इन्द्रिय तथा विषयों की अधीनता नहीं स्वीकारता। व्युत्सर्ग—देह को आत्मा से अलग समझने का अभ्यास भी वह सतत करता है; जिससे उसे सत्य की स्पष्ट प्रेरणा होती है।

भौतिक विज्ञानवेत्ता भी भौतिक विज्ञान की अन्वेषणा करते हैं तो उन्हें भी इस प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते है, यहाँ तक कि अनेकों को प्राणों की आहुति तक भी देनी पड़ती है। दुःखों और कष्टों को सहना भी साधारण लोगों की भाषा में तप कहा जाता है। बिना तप के वैज्ञानिकों का अन्वेषण भी सफल नहीं हो पाता तो सत्य-शोधक का स्पष्ट सत्य-प्रतीति का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है? सत्य-शोधन के लिए भी देह के उत्सर्ग तक का तप करना पड़ता है। कभी-कभी भौतिक अन्वेषणकर्ता भी अपने जीवन-काल में किसी अन्वेषण को पूर्ण नहीं कर पाते, इसलिए वे अपने अनुभव को लिपिबद्ध कर जाते हैं, ताकि आगे आने वाले लोग उसका लाभ उठा सकें। अनेक बार तो वे खोज के सिलसिले में प्राणान्तक प्रयोग भी करते हैं। जब भौतिक खोज के लिए इतना तप करना पड़ता है तो आध्यात्मिक—सत्य की खोज के लिए प्राणों की आहुति तक देनी पड़े तो उसमें आश्चर्य भी क्या है।

सत्य-शोधक के लिए विकारमुक्ति आवश्यक

स्वार्थ, लोभ, अहंकार आदि विकारों का सत्य की खोज में त्याग करना आवश्यक है। भगवान महावीर को ही नहीं, उनके श्रावकों को भी स्वार्थ, अहंकार आदि का त्याग करना पड़ा है। सत्य-भक्ति का लक्षण भी विकारमुक्ति एवं अहंकारमुक्ति है। महात्मा गांधी को भी सत्य की खोज और प्रयोग के लिए सदा सतर्क होकर महान तपस्या करनी पड़ी थी। कई बार यातनाएँ भी सहनी पड़ी थी।

तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति निःस्वार्थ, निरहंकार भावना से सत्य की खोज में लगा है, जिसका जीवन सत्य-प्रभु की भक्ति, निष्ठा और आराधना में प्रतिक्षण व्यतीत हो रहा है, वह अन्त तक गलत रास्ते पर जा नहीं सकता।

कदाचित् गलत रास्ते पर छद्मस्थ-अवस्था (अपूर्णता) के कारण कदम उठ भी जाय तो भी वह शीघ्र ही सही रास्ते पर आ जायगा। क्योंकि जो सत्यार्थी अन्तःस्थ सत्यरूपी परमात्मा के अधीन रहता है, उसी की प्रेरणा से चलता है, उसकी आज्ञा का कभी भंग नहीं करता; उस व्यक्ति को प्रत्येक कदम पर वह सत्यरूपी परमेश्वर बचाता है। इसलिए सत्यपथ छोड़कर गलत मार्ग पर जाने का उसके लिए अवसर ही नहीं आता। कदाचित् किसी कारणवश गलती हो भी जाती है तो उसका पता लगते ही वह उसे सुधार लेता है, भूल को स्वीकार करके सुधार लेने में सत्यनिष्ठ को देर नहीं लगती। जिसे सत्य के सीधे प्रशस्त पथ पर चलने का अभ्यास हो गया है, वह सत्य से भिन्न टेढ़े मार्ग पर कदम रखते ही जान जाता है कि मैंने अपना मार्ग छोड़ दिया है और तुरन्त वापिस अपने सत्पथ पर आ जाता है।

इसीलिए मैंने कहा कि सत्य भगवान की आराधना केवल जंगल में जाकर एकान्त एक स्थान में बैठकर उपासना या जाप करने से पूर्ण नहीं होती। ऐसी भक्ति मर्यादित है, एकांगी है; सत्य-प्रभु की सर्वांगी भक्ति या आराधना तो जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी क्रियाओं के साथ प्रतिक्षण सावधान रहकर मन-वचन-काया से सत्य पालन करने से होती है। अन्तर्-बाह्य सारा जीवन सत्यमय बनाकर सत्य के साथ तादात्म्य का अनुभव करने में ही सत्य की व्यापक आराधना की अनुभूति होती है।

सत्य का पथ : महाकठिन

सत्य का पथ तलवार की धार से भी तीखा है। जरा सा चूकने पर पतन हो जाने की संभावना रहती है। इसीलिए कहा है—

> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
> दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

—छुरे की तेज धार के समान वह पथ दुरतिक्रम एवं दुर्गम है, ऐसा विद्वान् मनीषी कहते हैं।

इस सत्यप्रभु को प्राप्त करने के लिए मरने की तैयारी रखनी होती है। जिसकी मरने की तैयारी नहीं है, यानी जो भीरु है, कायर है, जिसकी अपनी देह में आसक्ति है, प्राणों पर मोह है, वह सत्य भगवान् की आराधना सम्यक् रूप में नहीं कर सकता। गुजरात के भक्त कवि प्रीतमदास कहते हैं—

> हरिनो मारग छे शूरानो, नहि कायरनुं काम जोने।

परमेश्वर का मार्ग शूरवीरों का है। वहाँ कायरों का कोई काम नहीं है। पहले सिर को अर्पण करे, 'अप्पाणं वोसिरामि' करे, तत्पश्चात् उसके बदले में नाम ले।

जैनशास्त्र भी पुकार-पुकार कर कहते हैं—

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ।

—सत्य भगवान् की आज्ञा में उपस्थित मेधावी पुरुष मृत्यु को पार कर जाता है। अर्थात् वह मृत्यु से डरता नहीं।

सत्य की आराधना का मंत्र ही मरकर जीने का मंत्र है, स्वयं शून्य बन जाने, जीते-जी कायोत्सर्ग—देहोत्सर्ग कर देने का मंत्र है। चूँकि सत्य-शोधक स्वयं शून्य बन जाता है, सत्य भगवान् के चरणों में अपने मन-वचन-काया को समर्पित कर देता है, सारा जीवन सत्य के हवाले कर देता है, मानो वह स्वयं तो है ही नहीं, एक तरह से मर चुका है। इस प्रकार स्वयं के शून्य बन जाने में सत्यार्थी को इतना आनन्द आता है, कि वह सत्य भगवान् में स्वयं ओतप्रोत हो जाता है। संत तुकाराम ने कहा है—

आपुलें मरण पाहिलें, म्यां डोलां

—मैंने अपनी आँखों से अपना मरण देखा। संत तुकाराम ने जीते-जी शून्य बनकर मृत्यु का आनन्द प्राप्त किया।

सत्य-साधक का जीवन-व्यवहार

इस प्रकार सत्य का आराधक या शोधक जब सत्य भगवान् के समक्ष सर्वस्व अर्पण कर देता है, तब उसे समस्त क्रियाओं—खाने-पीने, हँसने-गाने, बोलने-चलने आदि में सत्य का ही ध्यान रखना पड़ता है। साधक की सारी क्रियाएँ प्रायः सत्यनारायण के अनुसन्धान में चलनी चाहिए। सत्य-साधक को निद्रा भी सत्य के ध्यान एवं अनुसन्धान में मन को स्थिर करके चिन्ता-मुक्त, दोषरहित, अखण्डित एवं स्वप्नरहित लेनी चाहिए। सत्यसाधक के लिए कहा गया है—

'से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा जागर-माणे वा न मुसं वइज्जा।'

—सत्यार्थी सत्यव्रती चाहे ग्राम में हो या नगर में, जंगल में हो या महल में, अकेला हो या परिषद् में बैठा हो, सोया हो या जागता हो, उसे असत्य का आचरण नहीं करना चाहिए। सर्वदा, सर्वत्र और सभी परि-स्थितियों में उसे सत्य का ही लक्ष्य रखना चाहिए।

सत्य की आराधना के लिए मन-वचन-काया की एकरूपता

सत्य की आराधना के लिए मन-वचन-काया में एकरूपता होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि मन में कुछ और हो, वाणी से कुछ अन्य बात कही जाय और काया से कुछ और ही क्रिया जाय। सत्य भगवान् की इस प्रकार से आराधना कदापि नहीं हो सकती। भगवान् महावीर के सामने जब सत्य की आराधना की बात आई तो उन्होंने कहा—

'भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे'

सत्य के आराधक को भाव से भी सत्य होना चाहिए। मन में विषमभाव आते हैं, तो वाणी भी विषम होगी। क्रोध आदि से लिप्त मन होगा तो वाणी भी तदनुरूप ही लिप्त एवं दोषयुक्त होगी। अतः मन से जो सोचा-विचारा जाय, वह स्व-पर-कल्याणकारक हो, वचन से भी जो कुछ बोला जाय, वह भी तदनुरूप ही हो, और काया से जो कुछ भी किया जाय वह भी मन-वचन के साथ कल्याण के अनुरूप हो।

वचन से बोलने का सत्य तब तक सत्य नहीं होगा, जब तक मन में सचाई न हो। मन की सचाई ही वाणी की सचाई का रूप धारण करती है। मन की सचाई के अभाव में वाणी की सचाई भी असत्य ही कहलाएगी।

इसी प्रकार मन में जो सोचा है, और वाणी से जो बोला है, उसी को जीवन में क्रियान्वित करना, आचरण में लाना काय सत्य है। हाथ, पैर और शरीर की सारी चेष्टाएँ यदि मन-वचन के अनुरूप ही होती हैं तभी सत्यार्थी साधक की सत्य की सही आराधना है।

महात्मा कौन है, और दुरात्मा कौन है ?, इस सम्बन्ध में जब बात चली तो नीतिकारों ने कहा—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्॥

महात्मा पुरुषों के मन में जो बात होती है, वही उनके वचन में होती है, वही उनकी कायचेष्टाओं में होती है। ऐसा नहीं कि अभी कुछ कह दिया और घड़ी भर बाद कुछ कह दिया। महात्माओं के मन-वचन-कर्म में एक रूपता होती है, जबकि दुरात्माओं के मन में कुछ और बात होती है वचन से कुछ और बात कहेंगे, और तन की चेष्टाएँ कुछ और ही होती हैं। मन में कुछ हो, वचन से कुछ बकवास जा रहे हो और आचरण [illegible]

सत्य की आराधना की ओट में असत्य की आराधना है, भक्ति की आड़ में वंचना है।

दुर्भाग्य से आज सत्य बोलने की बात तो कही जाती है, मगर सत्य सोचने और सत्याचरण करने की बात को भुला दिया जाता है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि मन और क्रिया की सत्यता के बिना केवल वचन का सत्य वंचना है। लीजिए, एक दृष्टान्त द्वारा आप इसे समझने का प्रयत्न कीजिए—

एक ग्वाला था। भूल से उसने एक ऐसी गाय खरीद ली, जो दिखने में तो बड़ी हृष्ट-पुष्ट लगती थी, मगर दूध की एक बूँद भी नहीं देती थी। जब भी ग्वाला गाय दुहने बैठता, वह लात मारती। ग्वाले ने सोचा—'अच्छी बला गले पड़ गई। इतना चारा देता हूँ, कपासिया गुड़ आदि का बाँटा भी देता हूँ फिर भी दूध के नाम पर लात! किसी को बेच डालना ही ठीक है, मगर ऐसी गाय को लेगा कौन?'

ग्वाले के पड़ौस में ही एक भगतजी रहते थे। ग्वाला यदा-कदा उनकी सेवा किया करता था। ग्वाले ने भगतजी से अपनी कष्ट-कथा कह सुनाई। भगतजी ने सोचा—'यह बेचारा सेवा करता है तो इसका काम बना देना चाहिए।' भगतजी ने ग्वाले से कहा—"चिन्ता मत कर, बच्चा! तेरी गाय हम बिकवा देंगे। ऐसा करना कोई खरीदार आए और पूछे कि यह गाय कैसी है, कितना दूध देती है? तो तुम उसे मेरे पास ले आना, मैं उसे इशारे में समझा दूँगा, बस न तो मुझे झूठ बोलना पड़ेगा और न तुझे ही। तेरा काम बन जाएगा।"

एक दिन गाय का एक खरीदार आया तो ग्वाले ने वह गाय उसे दिखाई। खरीदार ने गाय को देखकर कहा—"गाय तो बहुत सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट है, मुझे पसंद आगई है, पर यह दूध कितना देती है?"

ग्वाले ने कहा—"इस विषय में मैं अपने मुँह से क्या कहूँ? पास ही एक भगतजी रहते हैं, उनसे चलकर पूछ लीजिए। आपको विश्वास हो जाएगा।"

खरीदार ग्वाले के साथ भगतजी की कुटिया पर पहुँचा और भगत जी से पूछा—"भगतजी! मुझे आपके पड़ौसी की गाय खरीदनी है, बताइए वह कैसी रहेगी?"

इस पर भगतजी कुछ बोले नहीं, अपनी माला फिराते रहे।

इन्द्रियातीत अवस्था की अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम से कैसे कराई या समझाई जाय ? इसलिए इन्द्रियातीत अनुभूति के लिए शब्द तो असमर्थ हैं ही, ऐन्द्रिय अनुभूतियों को भी शब्दों में ठीक-ठीक नहीं बाँधा जा सकता। सूक्ष्मतर आन्तरिक अनुभूतियाँ प्रायः गूँगे का गुड़ बनी रह जाती हैं। बयान करने के समस्त प्रयत्न अधूरे रहते हैं। भाषा की सीमाओं के अतिरिक्त बोलने और लिखने वाले की तथा उससे भी अधिक सुनने व पढ़ने वालों की भी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, जो कि शब्द सत्य के पूर्ण सत्य बनने में बाधक होती है। कहने वाला जो कहना चाहता है, उसे ठीक-ठीक कह न सके और जो कहे, वह जिस अर्थ में कहा गया है, सुनने वाला उस अर्थ में समझ न सके, यही शब्द-सत्य की अपूर्णता है। अतः सत्य का स्पष्ट साक्षात्कार, जिसे दार्शनिक भाषा में दृष्ट एवं अनुभूत सत्य कहा जाता है, न हो तब तक सत्य का यथार्थ बोध पूर्णता की मंजिल तक नहीं पहुँच पाता। सत्य के यथार्थ बोध की जिज्ञासा श्रुत (शब्द) सत्य से शान्त नहीं होती, वह होती है स्वयं के द्वारा साक्षात् दृष्ट एवं अनुभूत सत्य से।

दूसरी बात यह है कि सर्वथा अनुभवहीन व्यक्ति के लिए तो कभी-कभी शाब्दिक समाधान बिलकुल ही उलटी गंगा बहा देता है। गुड़ से बिलकुल अनजान व्यक्ति जब गुड़ के रस के सम्बन्ध में पूछता है तो उत्तर-दाता के यह कहने पर कि 'गुड़ बहुत मीठा होता है' केवल शाब्दिक समाधान तो हो गया, यानी प्रश्नकर्ता को गुड़ के रस का परिबोध भी हो गया, कि वह मधुर होता है। मगर मधुर रस का यह परिबोध अधूरा है, अस्पष्ट है, परोक्ष ही होता है। जिसने मधुर रस का कभी अनुभव नहीं किया, उसके लिए तो यह शाब्दिक समाधान कोई माने ही नहीं रखता।

एक उदाहरण लीजिए—

किसी गाँव में एक दरिद्र अन्धा था। उसने कभी खीर खाई नहीं थी। एक दिन कुछ लड़के उसके सामने खीर खाने की चर्चा कर रहे थे। उनकी चर्चा सुनकर उस दरिद्र अन्धे के मन में भी जिज्ञासा पैदा हुई। फलतः उसने बड़ी नम्रता से उन लड़कों से पूछा—"क्या होती है, भैय्या खीर ?"

एक उत्साही बालक ने बताया—"खीर दूध की होती है।"

अन्धे भिखारी ने कभी दूध भी न देखा ही था और न पीया ही था। अतः उसने पूछा—"दूध कैसा होता है ?"

"दूध सफेद होता है। और

"अरे भाई कैसा सफेद होता है ?" अन्धे को रंगों का कुछ भी ज्ञान नहीं था, इसलिए उसने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

एक बड़े लड़के ने कहा—"दूध बगुले जैसा सफेद होता है।"

अन्धा भिखारी और चक्कर में पड़ गया, क्योंकि उसने तो कभी बगुला भी नहीं देखा था। अतः पूछ बैठा—"भैया! मैं नहीं जानता, बगुला कैसा सफेद होता है ?"

अब लड़कों के सामने समस्या आ पड़ी, उस अन्धे को समझाने की; जिसने जिंदगी में न कभी दूध देखा, न सफेद रंग जाना और न कभी बगुला ही देखा था। अन्ततः बाल मंडली में से एक चतुर बालक ने अपने साथियों से कहा—"इतनी देर हो गई, तुम्हें समझाते, बेचारे अन्धे को कुछ भी न समझा पाए। चलो हटो, मैं समझाता हूँ।" और फिर उस चतुर बालक ने चट से अपने हाथ को जरा टेढ़ा-सा करके बगुले की आकृति दी और अन्धे दरिद्र का हाथ पकड़कर अपने हाथ पर फिरवाकर बोला—"देखो, बगुला ऐसा होता है।"

बेचारा अंधा भिखारी बगुले के इस अर्थबोध से खीर के अर्थबोध पर पहुँचा और बोला—"हूँ! ऐसी टेढ़ी खीर तुम खाते कैसे हो ?"

सब लड़के उसे समझाने से हार मानकर चले गए।

मतलब यह है कि गुड़ हो या खीर, सबका वास्तविक बोध तो उन वस्तुओं का प्रयोग करने पर ही हो सकता है। जब तक खीर या गुड़ जबान पर रखा नहीं जाता, तब तक उसके रस का अनुभूतियुक्त सत्य उपलब्ध नहीं होता। अतः गुड़ या खीर को चखाकर या हाथ से स्पर्श करा कर ही किसी पदार्थ से अनजान अंधे को अर्थबोध कराया जा सकता है।

यह तो बाह्य जगत् की बात है, अन्तर्जगत् के तत्त्वबोध तो शब्दजाल में और अधिक उलझ जाते हैं। अन्दर का यह जगत् इतना अधिक सूक्ष्म, रहस्यमय और इन्द्रियातीत है कि वहाँ शब्द की स्थिति तो क्या, गति भी नहीं है। वैदिक ऋषि उसके सम्बन्ध में कहते है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।—अर्थात् मन और वाणी बिना कुछ पाए, बिना कुछ बोध प्राप्त किये, असफल ही लौट जाते हैं। भगवान महावीर ने भी इन्द्रियातीत पदार्थों के बोध के बारे में स्पष्ट कहा है

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ।
उवमाणं न विज्जए, अपयस्स पयं णत्थि॥

अर्थात्—वहाँ से सारे स्वर लौट आते हैं, तर्क की भी वहाँ पहुँच नहीं

है, उपमा के लिए भी यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है, आदि का कोई पद नहीं होता, दृश्यचिह्न बिलकुल नहीं होता।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि अनिर्वचनीय परम तत्त्व का रहस्य खोलने में शब्द कितने अक्षम है!

किन्तु फिर भी महान् कहलाने वाले पुरुषों के अनुभूतिजन्य सत्य को शब्दों में उतारने के प्रयत्न होते ही है। कुछ अंशो में उनसे लाभ भी हुआ है, कुछ अंशों में हानि भी। जहाँ उन्हें खुले दिमाग से अपनाया गया है, वहाँ लाभ हुआ है; परन्तु जहाँ बुद्धि पर ताला लगाकर आँखें मूँदकर उन्हें पूर्ण सत्य मानने का एकान्त मिथ्याग्रह हुआ, वहाँ हानि ही हुई है। साम्प्रदायिक अन्धविश्वासों और अन्ध-मान्यताओं को प्रोत्साहन मिला है।

अन्धविश्वासों का जाल : सत्यानुभूति में बाधक

सत्य का पुजारी अन्धविश्वासों, वहमों या झूठी मान्यताओं या घातक रीति-रिवाजों को, फिर चाहे वे किसी भी महापुरुष ने बनाये हों या महापुरुष के नाम से चलाए जा रहे हों, कभी प्रश्रय नहीं दे सकता।

वाणी और आचरण के सत्य का मूल जैन दर्शन में मन के सत्य को माना है। जब तक मन में सत्य-धारणाएँ, सत्य-विश्वास, सत्यदृष्टि या सत्य श्रद्धा नहीं जमती, तब तक वहाँ सत्य की आराधना कोरी वाणी से पूर्ण नहीं हो जाती।

आज भी दुनिया में सैकड़ों अन्धविश्वास चल रहे हैं। अधिकांश अन्धविश्वास लोभ और भय पर आधारित होते है। परन्तु सत्य का पुजारी अन्धविश्वासों को मानसिक गुलामी मानता है। कई लोग कार्य-कारण का ठीक पता न लगाकर मिथ्या राह पकड़ लेते हैं, खोटे रीति-रिवाजों के—कुरुढ़ि के शिकार हो जाते है। प्रायः सामान्य आदमी में इतनी विचारशक्ति व हिम्मत होती नहीं कि वह कार्यकारण भाव का पता लगाकर किसी भी मिथ्या धारणा और अन्धविश्वास को मानने से इन्कार कर दे। अतः सामान्य मनुष्य उनका दास बन जाता है।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति, जब १९४५ में हुई, तब इंग्लैंड में यह अन्धविश्वास चल पड़ा कि एक दियासलाई से तीन सिगरेट जलाने पर तीनों में कोई एक व्यक्ति मर जायगा। इस अन्धविश्वास ने लोगों को इतना अधिक मानसिक गुलामी में फँसा दिया कि किसी व्यक्ति के मर जाने पर यही कारण बता दिया जाता था।

इसी प्रकार सीढ़ी के नीचे से निकलना भी बुरा समझा जाता है। विवाह, जन्म, मरण आदि के साथ भी कई अन्धविश्वास चिपके हुए हैं। किसी का छींक देना, किसी तेली का सामने मिल जाना, किसी बिल्ली का रास्ता काटकर निकल जाना, बिना तिलक के ब्राह्मण का मिल जाना इत्यादि नाना प्रकार के अन्धविश्वासपूर्ण वहम समाज में प्रचलित हैं। इस प्रकार के वहम असत्य का रूप हैं।

जिसने कर्म फिलॉसॉफी (सिद्धान्त) का महत्त्व समझ लिया है, जो इस सिद्धान्त को मानता है कि अपने-अपने पुण्य और पाप कर्म के अनुसार फल मिलता है, वह इन अन्धविश्वासों को नहीं मान सकता।

यात्रा में कहीं गड़बड़ हो गई तो दिशाशूल के साथ सम्बन्ध जोड़ देना सहज असत्य का पोषण करना है। किसी के बच्चे को अच्छी पोशाक में देखकर किसी ने प्रशंसा कर दी तो बस उसके बीमार होते ही वहम घुस जाएगा कि अमुक की नजर लग गई है। ये सब वहम हैं जो मनुष्य को सत्य के साक्षात्कार से रोकते हैं। अगर जीवन में सत्य का बल है, शक्ति का स्रोत बह रहा है तो दुनिया भर के राक्षस क्या देवता भी मिलकर कुछ नहीं बिगाड़ सकते। सत्यमय जीवन तो नचिकेता की तरह यमराज की आँखों को भी चुनौती दे देता है। नजर लग जाने के वहम के साथ-साथ उस पुरुष या स्त्री को डायन और डाकिन का फतवा देकर अपमानित और तिरस्कृत करके ही दम लिया जाता है। कितना असत्य है यह—किसी पर बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के मिथ्या दोषारोपण करना।

मनुष्य अपनी इच्छाओं और वासनाओं का दास बना रहता है। उनकी पूर्ति के लिए उलटे-सीधे प्रयत्न करता है। भय या लोभ से प्रेरित होकर किसी रीति-रिवाज, प्रथा या विश्वास का गुलाम बन जाता है। कभी-कभी तो ऐसा भयंकर हिंसाप्रधान रास्ता अपना लेता है कि सत्य की सीमाएँ तोड़कर असत्य के क्षेत्र में पहुँच जाता है।

अन्धविश्वास का परिणाम : अनेक देवी-देवता

भारत में हजारों-लाखों देवी-देवताओं को पूजा जाता है, उनकी मनौती की जाती है, उन पर लाखों-करोड़ों रुपयों का चढ़ावा चढ़ाया जाता है, उनके लिए लाखों रुपये स्वाहा किये जाते हैं। प्रत्येक नदी, नाला, ईंट, पत्थर, पहाड़, पेड़ आदि को भारतवासियों ने देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है। लाखों-करोड़ों लोग इधर-उधर भटक रहे हैं। कुछ भयभीत होकर कि उनके बच्चे, माँ-बाप, पत्नी या अन्य सगे-सम्बन्धी बीमार न हो जायें, संकट से न

घिर जायँ, देवी-देवों की सेवा में जाते हैं। मनुष्य से लोभ से प्रेरित होकर देवों की मनौती करते हैं, कि वे उन्हें धन, सन्तान, पद, प्रतिष्ठा या अन्य सांसारिक साधन दे देंगे। क्या पेड़ या पाषाण देव के पास अक्षय भंडार भरा पड़ा है, या सन्तान दे देने की शक्ति मौजूद है ? कई लोग अपने लिए सुख चाहने और अपने विरोधियों को दुःख में डालने की देव से प्रार्थना करते हैं। जबकि वे यह मानते हैं—

> सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
> परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्।

कोई भी शक्ति हमें सुख या दुःख नहीं दे सकती। हमने जो कुछ कर्म बाँधे है, उनके विपाक को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। हमारा भला-बुरा सिर्फ हमारे ही हाथ में है, हमारे ही कर्मों के अधीन है।

मानसिक दुर्बलताएँ : असफलता का हेतु

इस तरह अन्धविश्वास से मनुष्य झूठा सन्तोष मानकर बैठ जाता है जैसे कोई आदमी प्यास मिटाने के लिए निखालिस पानी पीने के बजाय मिट्टी का तेल पीकर यह सन्तोष मान ले कि उसकी प्यास बुझ गई है। सचमुच, अन्धविश्वास जीवन का सच्चा सहारा नहीं है।

वर्तमान में बहुत से धर्म स्वर्ग और मोक्ष का लोभ और नरक का भय दिखाकर भोले-भाले लोगों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हैं। और तो और अकर्तावादी धर्म भी सत्य-अहिंसा आदि का पालन कराने के लिए स्वर्ग का लालच देते हैं। माता-पिता या बुजुर्ग बचपन से ही बच्चों में भय और लोभ दिखाकर काम कराने की आदत डाल देते हैं। वही आदत बड़े होने पर धर्म के मामले में उनके जीवन में काम करने लगती है। सिद्धान्त का निर्णय हो जाने पर भी दुर्भाग्य से, भारतवासियों के मन में भय और लोभ के वश सैकड़ों अन्धविश्वासों को पालने-पोसने की बीमारी लगी हुई है। इन अन्धविश्वासों के पुजारी होने के कारण व्यक्ति के मन में किसी भी बात की परीक्षा करने का साहस नहीं होता, उसका मनोबल टूट जाता है, किसी भी अन्धविश्वास को तोड़ने में वह पहल नहीं कर सकता। आवश्यक संकल्प न होने के कारण ऐसा व्यक्ति प्रत्येक कार्य में असफल हो जाता है। वस्तुतः ये अपशकुन या वहम अपने आप में मनुष्य को असफल नहीं बनाते; असफल बनाती हैं, मनुष्य की तज्जन्य मानसिक दुर्बलताएँ।

इस प्रकार अन्धविश्वास के ...

कर लेना सरल है, जबकि अनुभूतिजन्य स्तर पर स्वयं अन्वेषण करके उसे स्वीकार करना कठिन काम है।

इसी दृष्टि से एक प्रबुद्धवर्ग ने शब्द-सत्य को जाँचने-परखने, बुद्धि की तराजू पर तौलने, तर्क की कसौटी पर कसने और युक्तियों के हथौड़ों की चोट लगाने का प्रयत्न किया। इसी से सत्य का एक दूसरा स्वरूप उजागर हुआ, जो व्रती या सम्यग्दृष्टि के लिए अनिवार्य था, जिसे अनुमान सत्य या बौद्धिक सत्य कहा गया।

इसके सहारे से सचाई को बुद्धि की भट्टी में तपाकर, उसकी जाँच में दिमाग लगाकर, युक्ति-तर्कसंगत जँचने पर स्वीकार किया जाने लगा। इससे मनुष्य की ज्ञान यात्रा आगे बढ़ी। 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के बदले, सत्य का साधक व्यवस्थित ढंग से युक्ति, तर्क, हेतु आदि की कसौटी पर कसकर ही सत्य मानने लगा। जिन बातों में अपनी इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, उनमें तो विश्वास रखकर चलना ही पड़ता है। परन्तु वह विश्वास भी आप्तपुरुष की परीक्षा करके ही किया जाता है।

इस आनुमानिक सत्य से एक फायदा यह हुआ कि किसी बात को आँखें मूँदकर मान लेने की आदत छूटी; अन्धश्रद्धा और भक्तिभावावेश के घुटन भरे माहौल से तथा पूर्वाग्रह की घुटन से बाहर निकलने में सफलता मिली। परन्तु जिस प्रकार शब्द-सत्य की मान्यता प्रायः अन्धविश्वासों से दूषित हो उठी, उसी प्रकार बौद्धिक सत्य की मान्यता भी शुष्क तर्क-वितर्क के घने जंगल में ही भटक कर रह गई।

धर्म की परीक्षा : बुद्धि से

वैसे अपने भीतर जगमगाते हुए प्रकाश का दूसरा नाम सत्य है, उसी सत्य को लोग परमेश्वर के नाम से पुकारते हैं, तब जो व्यक्ति अपने प्रति वफादार है, वही इस सत्य परमेश्वर के प्रति वफादार हो सकता है। वस्तुतः सत्य के प्रति वफादारी के लिए अपनी आत्मा के प्रति वफादारी होना आवश्यक है। जो अपने प्रति वफादार नहीं है, वह अपने अंदर जगमगाते हुए सत्य रूपी महाप्रकाश के प्रति कैसे वफादार हो सकता है? जो सत्य के प्रति वफादार है, किन्तु प्रत्यक्ष सत्य की उपलब्धि [illegible] हुई है, वह दुनिया भर के धर्मों, सिद्धान्तों या सत्यों [illegible] प्रयोगशाला में परीक्षा करके ही मान सकता है

'प्रज्ञा

—तत्त्वों (प्रमाणों)

प्रज्ञा से

यह बात दूसरी है कि [illegible] ... किन्तु [illegible] सिद्धान्त या वस्तु को, जब तक वह स्वयं [illegible] को संतोष नहीं होता। जब तक उसकी बुद्धि [illegible] तब तक चाहे वह उस वस्तु को [illegible] भी करे, फिर भी सत्य [illegible] नहीं मानता। [illegible] सत्य के प्रति [illegible] है। [illegible] है, जो हृदय से सम्बन्धित है।

यद्यपि सत्यनिष्ठ बुद्धि का साधक आप्त जिन आदि आप्त पुरुषों के कहने से तत्त्व दशा को अंशतः या सत्य मान लेता है, किन्तु जब तक अपनी उसकी [illegible] नहीं बना देती, तब तक वह उसे पूर्ण सत्य नहीं मानता। यही बात सत्यार्थी साधक के लिए है, वह अन्धविश्वास, अन्धश्रद्धा से किसी पद अथवा लोभ से प्रेरित होकर किसी बात को तब तक पूर्ण सत्य नहीं मानता, जब तक उसकी प्रज्ञा की शाण पर चढ़ कर वह बात सत्य सिद्ध न हो जाय। किसी बात को कोई मुखिया या चौधरी कहता है, कोई प्रसिद्ध आचार्य कहता है, या बहुसंख्यक दल कहता है, या उसके लिए शासन का आदेश है अथवा किसी धर्मग्रन्थ में लिखा है, इतने मात्र से सत्यार्थी उसे सत्य या प्रमाणभूत नहीं मान सकता।

इसीलिए भगवान् महावीर ने श्रुत (शब्द) सत्य से आगे का सत्य खोजने के लिए कदम बढ़ाया। उनकी दीक्षा साधना का अर्थ था—स्वयं सत्य की खोज करना। कुछ लोगों ने शब्द-सत्य के क्षेत्र में अन्धविश्वास को दूर कर बुद्धि का प्रयोग किया, किन्तु वे भी बहुधा अनुभूति के क्षेत्र में शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतान्तरों वाले सम्प्रदायों के प्रणेता या अनुयायी होकर रह गये। जहाँ आन्तरिक अनुभूति होती है, वहाँ साम्प्रदायिक भेद-भाव के लिए कम गुंजाइश रहती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने स्वयं सत्य की उपलब्धि करने के बाद कहा था—

'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'

—स्वयं अपने से, अपने चिन्तन एवं अनुभूति से सत्य की खोज करो।

जीवन की राह में मिला हुआ मार्ग का ज्ञाता, गुरु या द्रष्टा कुछ दूर तक ही चल सकता है, आगे का पथ तो स्वयं जाँचना-परखना होगा और जाँच कर स्वयं उस पर चलना होता है। शाब्दिक श्रुतज्ञान के आधार पर केवलज्ञान रूप पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। कैवल्य के लिए श्रुत के आगे

दृष्ट सत्य की यात्रा करनी ही पड़ेगी। परोक्ष से प्रत्यक्ष में उतरना होगा। भगवान् महावीर के दर्शन में प्रत्यक्ष स्व-सापेक्ष है और परोक्ष पर-सापेक्ष।

सत्याग्रही बनो, मताग्रही नहीं

वस्तुतः सत्य तो एक ही है, वह भिन्न-भिन्न नहीं होता। समग्र प्रकृति का विधान एक ही है, वह अलग-अलग कैसे होगा? परन्तु किसी की प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब वाणी का चोला पहन लेता है, तब ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भाषा, शब्द और वक्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण सत्य भी भिन्न-भिन्न लगने लगते हैं। सत्य तो सत्य है, वह अलग-अलग कैसे होगा? संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द शब्द-सत्य मानने वालों को अलग-अलग लगेंगे। क्योंकि जो व्यक्ति किसी महापुरुष द्वारा अनुभूत सत्य को स्वयं अपनी अनुभूति पर उतारता नहीं, और न ही बौद्धिक दृष्टि से जाँचता-परखता है, प्रत्युत अन्ध-श्रद्धाजन्य भावावेश में उसी महापुरुष की वाणी को स्वीकृति देकर अपने आपको कृतार्थ मान लेता है, उसे वे शब्द ही पूर्ण सत्य नजर आते हैं, बाकी सब मिथ्या। शब्दों के प्रति उसकी इतनी आसक्ति हो जाती है कि दूसरे धर्मग्रन्थ में, दूसरे महापुरुष या दूसरी भाषा में कही हुई उसी बात को वह सत्य मानने से इन्कार कर देता है। उसे वह सत्य पराया लगता है। प्रायः साम्प्रदायिकता, कट्टर सम्प्रदायाभिनिवेश शब्दों को महत्त्व देता है, और धर्म (शुद्ध धर्म) अर्थों को और उन्हें धारण करने को। आज प्रायः लोग शब्द-प्रमुख हो गए हैं, अर्थ गौण हो गया है। प्रत्यक्ष अनुभूति तो प्रायः लुप्तप्राय ही हो गई है। शब्दों के साथ-साथ प्रत्येक सम्प्रदाय की साम्प्रदायिक परम्परा का आग्रह इतना गाढ़ हो जाता है कि वह शास्त्र के शब्दों में से अपनी मताग्रही बुद्धि के अनुसार अर्थ खींचता है। जैसा कि आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

> आग्रहीबत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
> पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

—जो आग्रही होता है, वह युक्तियों को उधर ही खींचता है, जहाँ उसकी मताग्रही बुद्धि पहले से जमी हुई है, किन्तु पक्षपात से रहित सत्य शोधक की युक्ति उधर ही चलती है, जिधर बुद्धि सहज भाव से प्रवेश पाती है।

क्या कारण है कि श्वेताम्बर परम्परा के शास्त्र एक होते हुए भी एक ही पाठ के अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। शब्द तो वे के वे ही हैं, परन्तु साम्प्रदायिकता की आँख से देखने पर उनका अर्थ भिन्न-भिन्न नजर आता

बुजुर्गों द्वारा पढ़ाया जाता है। बच्चे के निष्कलिगपन के सम्बन्ध में एक सुन्दर संगीत सिनेमा जगत् में भी छा गया है। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

> बच्चे, मन के सच्चे ! सारे जग की आँख के तारे।
> ये वो नन्हें फूल हैं जो, भगवान् को लगते प्यारे॥
> इंसां जब तक बच्चा है, तब तक समझो सच्चा है।
> ज्यों-ज्यों उसकी उमर बढ़े, मन पे झूठ का मैल चढ़े॥
> क्रोध बढ़े, नफरत घेरे, लोभ डाले अपने डेरे।
> बचपन इन पापों से हटकर, अपनी उम्र गुजारे॥ बच्चे०॥

सचमुच बालक मन के सच्चे होते हैं। किन्तु कुछ बड़े होते ही माता-पिता या पारिवारिक जन उन पर असत्य का मैल चढ़ा देते हैं। यह कितना दुर्भाग्य है कि आप चाहते हैं कि बच्चा सत्य बोले और अपने ही हाथों से असत्य की जहरीली घुट्टी उसे पिलाएँ।

एक जगह की घटना है। वहाँ एक सरकारी अधिकारी रहते थे। वे एक दूकानदार से उधार सौदा लाते थे। परन्तु बाबूजी महीना पूरा होते ही अपना कर्ज चुकाने के बदले और कर्ज चढ़ाते जाते थे। जब उधार देने वाला दूकानदार वसूल करने आता तो बाबूजी टालमटूल करते रहते और दूकानदार को किसी बहाने से टरका देते।

एक दिन दूकानदार बाबूजी के वायदे के अनुसार घर पर आ गया और दरवाजे पर दस्तक देने लगा।

बाबूजी ने उस दूकानदार की आवाज सुनी तो द्वार नहीं खोला, किन्तु अपने छोटे बच्चे से कहा—"बेटा ! बाहर जो आया है न, उससे कहना—'बाबूजी घर में नहीं हैं'।"

बच्चा भोला था। वह असत्य बोलना नहीं जानता था, किन्तु उसके पिता उससे असत्य बुलवाना चाहते थे। अतः बच्चे ने दरवाजा खोला और बाहर खड़े दूकानदार से कहा—"बाबूजी कहते हैं, बाबूजी घर में नहीं हैं।"

दूकानदार बाबूजी की चालाकी को ताड़ गया। वह अंदर घर में आ गया और बाबूजी से कहने लगा—"आप इस तरह स्वयं झूठ बोलने के साथ-साथ बच्चे को भी झूठ क्यों बुलवाते हैं ? आपको आज रुपये न देने हों तो दो दिन बाद का वायदा कीजिए और उसे निभाइए पर इस तरह असत्य का प्रचार मत कीजिए।"

दूकानदार की बात सुनकर बाबूजी पर घड़ों पानी पड़ गया।

यह है बच्चों को असत्य की जन्मघुटी पिलाने का प्रयोग, जिसे पाकर बच्चे असत्य का अभ्यास बढ़ाते जाते हैं। असत्य के साथ झूठ, माया, कपट, दम्भ, द्रोह आदि उनमें बढ़ते जाते हैं। परन्तु कुछ बच्चे पूर्वजन्म के प्रबल संस्कार लेकर आते हैं, उन्हें चाहे जितना ही डराओ, धमकाओ, प्रलोभन दो फिर भी वे असत्य को निकट फटकने नहीं देते।

पश्चिम में सन् १८४३ ई० में एक बालक का जन्म हुआ था, इसका नाम रखा गया था—'इमेन्युअल डेनन'। जब वह चार वर्ष का हुआ, तब उसकी माता उसे छोड़कर चल बसी और एक वर्ष के बाद ही उसके पिता परलोकवासी हो गए। पाँच वर्ष के उस बालक का लालन-पालन उसके चाचा करने लगे। लेकिन यह सुख भी बालक के भाग्य में नहीं था। चाचा की भी एक साल के बाद मृत्यु हो गई।

बालक का भाग्य पलटा। सेम्युअल नोर्टन और उसकी पत्नी ने निःसन्तानता का दुःख भुलाने के लिए 'इमेन्युअल डेनन' को दत्तक लेकर अपने घर में आश्रय दिया।

उसके बाद सन १८५१ में एक घटना ऐसी हुई, जिससे इमेन्युअल पर विपत्ति का पहाड़ टूट पडा। बात यह हुई कि इसी वर्ष सेम्युअल नोर्टन ने एक व्यक्ति की हत्या कर डाली, यह भयंकर दृश्य दत्तक पुत्र इमेन्युअल ने देख लिया। पुलिस दल घटनास्थल पर पहुँचा और आठ वर्ष के बालक के बयान लेने को उद्यत हुआ। सेम्युअल ने उसे झूठा बयान देने की आज्ञा दी, लेकिन सत्यवादी और सत्याग्रही बालक ने असत्य बोलने को इन्कार करते हुए कहा—"पापा! मैं असत्य नहीं बोलूंगा, नहीं बोलूंगा, नहीं बोलूंगा पापाजी!"

आठ वर्ष के बच्चे इमेन्युअल के मुंह से सत्य से सनी हुई स्वाभाविक आवाज निकल रही थी। पर उसके मोजायत पिता ने उसे रस्सी से जकड़ कर बांध दिया और निर्दयतापूर्वक लाठियों से उस पर प्रहार करने लगा। प्रहार की असह्य वेदना के बावजूद भी उसके मुंह से वही एक वाक्य सुनाई दे रहा था। पुत्र ने पिता की असत्य बोलने की आज्ञा ठुकरा दी। इस पर क्रुद्ध होकर पिता ने लाठियों के सख्त प्रहार करके अपने ही हाथों से अपने दत्तक पुत्र का वध कर डाला।

अफसोस है, पिता की निर्दयता पर! परन्तु सत्याग्रही शहीद इमेन्युअल ने मरते दम तक सत्य ही कहा।

इस शहीद बालक की स्मृति में मई मास की दूसरी तारीख को

सत्य दिवस (Truth day) के रूप में आज भी उस नगर के समस्त निवा...
उत्साह मनाते हैं।

व्यापार का आधार : सत्य

व्यापार-धंधा असत्य के बिना नहीं चल सकता, यह कथन भ्रान्तिपूर्ण और अनुभवशून्य है। बल्कि सच्चाई तो यह है कि व्यापार सत्य और ईमानदारी तथा प्रामाणिकता से ही चलता और स्थायी रहता है। झूठ और कपट का व्यवहार करके आप कितने दिन अपना व्यापार चला सकेंगे? एक बार धोखा खाने के बाद दुबारा ग्राहक आयेगा ही नहीं तो क्या आपका व्यापार ठप नहीं हो जायगा?

इसीलिए व्यापार के बारे में यह निश्चित सिद्धान्त है—
Honesty is the best policy.
—ईमानदारी (सत्य एवं प्रामाणिकता) सबसे अच्छी नीति है।

जोधपुर में हमें कई व्यापारी ऐसे मिले जो सच्चाई के आधार पर अपना व्यापार चलाते हैं। उन्होंने बताया कि 'सचाई से व्यापार करने से पहले की अपेक्षा हमारी दूकान अच्छी चलती है, हमारा हौंसला भी बढ़ा है और हमारे चित्त में जो पहले अशान्ति और गड़बड़ी रहती थी, वह भी मिट गई है।' हिन्दुस्तान में कई व्यापारी हो चुके हैं, जिन्होंने सचाई से व्यापार करके अपना जीवन शान्तिपूर्वक बिताया है। इसलिए सचाई से व्यापार करना असम्भव नहीं है। हाँ, धर्मपालन करने में प्रारम्भ में कुछ अड़चनें आती ही हैं।

सत्य पर आधारित राजनीति प्रभावशाली

गांधीजी ने वकालत के धंधे में तथा राजनीति में भी सत्य का आश्रय लिया था।

गांधीजी जिस समय सेवाग्राम आश्रम वर्धा में रहते थे, तब ब्रिटिश सरकार की ओर से गुप्तचर गांधीजी की राजनैतिक गतिविधियों की देख-रेख रखने तथा रिपोर्ट लिखने हेतु आया करते थे। गांधी जी ने उन्हें डायरी में नोट करते देखकर एक दिन कहा—आप इतनी तकलीफ क्यों उठाते हैं? हम आपको हमारी चर्या की दैनिक रिपोर्ट टाइप की हुई आपको दे देंगे। आप अपनी डायरी से एक दिन उसे मिला लें और फिर विश्वास हो जाय तो रोजाना की रिपोर्ट ले जायँ।

उक्त गुप्तचर को यह बात जँच गई। उसने ...

से गांधीजी की टाइप की हुई रिपोर्ट मिलाई तो वह सही मालूम हुई। अब तो उसे विश्वास हो गया और वह प्रतिदिन की टाइप की हुई रिपोर्ट ले जाता और वॉयसराय के सामने पेश कर देता था। वॉयसराय को रिपोर्ट पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वह गांधीजी की सत्यता से बहुत प्रभावित हुआ।

इस प्रकार गांधीजी ने राजनीति जैसे झूठ के अड्डे में भी सत्य को अपनाकर अनेक लोगों को प्रभावित किया।

असत्य से मानसिक दुर्बलता

हाँ, तो मैं यह रही थी कि असत्य मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं है। असत्य के लिए उसे बहुत-सी बातों में दिखावट और बनावट करनी पड़ती है। स्वाभाविक और सीधी सच्ची जानकारी या वास्तविक तथ्य को छिपाकर उसके स्थान पर कृत्रिम प्रसंग गढ़ने में मस्तिष्क को प्रायः सात गुना कार्य करना पड़ता है।

एक ओर तो सही तथ्य को लेकर मन से निकलने वाले स्वाभाविक प्रवाह को जोरों से दबाना पड़ता है, दूसरी ओर ऐसी नई बात प्रस्तुत करनी पड़ती है, जो असत्य होते हुए भी पकड़ में न आए। ऐसा ढंग आजमाना पड़ता है, जिससे असत्य का पर्दा न खुल जाय। सचमुच, असत्य को छिपाने के लिए मस्तिष्क को इस प्रकार की उधेड़-बुन करनी ही पड़ती है।

असत्यवक्ता को असाधारण सतर्कता से अपना दिमाग चलाना पड़ता है, जिससे उसे भारी मानसिक क्षति उठानी पड़ती है। उसका मानसिक संस्थान दुर्बल होने लगता है।

असत्य कारण है, दोहरे व्यक्तित्व का

मानसिक संस्थान की दुर्बलता के साथ ही असत्यवादी में दो व्यक्तित्व पोषण पाने लगते हैं, और वे भी विषम प्रकृति के—एक असली और दूसरा नकली। असली व्यक्तित्व सही बात को जानता है, उसी में आस्था रखता है और उसे ही प्रगट करना चाहता है, जबकि नकली व्यक्तित्व सही बात को छिपाता है, सत्य की आवाज को कुचलता है और मनगढ़न्त कहानी गढ़ लेता है। वह सत्य को प्रगट नहीं होने देता। असली व्यक्तित्व नकली व्यक्तित्व के इस कृत्य से घृणा करता है, उससे परेशान और दुःखी रहता है। दोनों में द्वन्द्व पैदा हो जाता है। इससे असत्यवक्ता की मनोभूमि विरोधी अन्तर्द्वन्द्वों से भर जाती है।

नारद ने 'अज' शब्द का अर्थोद्घाटन करते हुए कहा—"अज शब्द का अर्थ बकरा ही नहीं होता, अपितु गृहस्थ के घर में जो तीन वर्ष का पुराना, न उगने लायक धान्य होता है, वही अज कहलाता है, वही धान्य (जौ), होम करने के काम आता है। 'बकरे' का यहाँ क्या काम है ?"

लेकिन पर्वत अब भी अपनी जिद पर अड़ा रहा। उसने कहा—"नहीं तुम्हारा बतलाया हुआ अर्थ ठीक नहीं है। मैंने जो अर्थ बताया है, वही ठीक है। किसी से भी पूछकर देख लो।"

नारद ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"भाई ! इसमें किसी से क्या पूछना है ? हर कोई शास्त्र के अर्थों और रहस्यों को नहीं जानता। अगर तुम वेदों को एकाग्रतापूर्वक पढ़ोगे तो स्वयं ही जान जाओगे कि यहाँ पर अज का अर्थ बकरा नहीं है, तीन वर्ष पुराना न उगने योग्य जौ ही है।"

पर्वत ने कहा—"जब तुम्हारी बात सच्ची है तो निर्णय कराने से क्यों डरते हो ?"

अहंकारों में जब टक्कर होती है, तो सत्य चकनाचूर हो जाता है। अहंकार के वश मनुष्य असत्य को भी प्रतिष्ठा चली जाने या शान में बट्टा लगने के डर से पकड़े रहता है, उसी को सत्य घोषित करता रहता है। वह अपनी गलती को छिपाएगा, दबाएगा और उसी का समर्थन करेगा। गलत अर्थ या परम्परा को छोड़ने का आत्मबल या नैतिक साहस का उसमें प्रायः अभाव होता है। शास्त्र के अर्थों पर भी जब अहंकार का पर्दा पड़ जाता है तो अपनी अहम्मन्यता के कारण अहंकार के अनुकूल ही अर्थ की खींचातानी की जाती है।

यही बात पर्वत और नारद के बीच हुई। मतभेद ने उग्र विवाद का रूप धारण कर लिया। दोनों में लम्बी-चौड़ी चर्चा चली; परन्तु कुछ भी निर्णय न हो सका। सत्य की जिज्ञासा और सत्य का स्वीकार करने की नम्र भावना हो तभी तो निर्णय हो सकता था ! आखिर पर्वत ने कहा—"हमारे मतभेद का निर्णय तो अब कोई तीसरा व्यक्ति ही कर सकता है।"

नारद बोला—"ठीक है, मुझे स्वीकार है; तीसरे से निर्णय करा लो।"

पर्वत कहने लगा—"वसुराजा हम दोनों के सहपाठी है, हम उन्हीं से निर्णय करा लें। हम उनके समक्ष वादी-प्रतिवादी के रूप में जाएँगे। वे जिसके पक्ष में निर्णय देंगे, उसकी जीत और दूसरे पक्ष की हार समझी जाएगी। जिसकी हार होगी, उसे अपनी जीभ कटवानी होगी।"

के निर्णय देने का समय हुआ तो नारद के बोलने के दौरान उसने चुप्पी साध ली और जब पर्वत बोलने लगा तो उसका समर्थन कर दिया।

इस प्रकार के असत्य का पक्ष-पोषण करते ही वसुराजा का सिंहासन, जो सत्य प्रभाव से अधर टिका हुआ था, नीचे आ गिरा। वसुराजा इस घोर असत्य के प्रभाव से नरक में गया।

वसु अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए बोलता तो उसका दुष्प्रभाव इतना दूरगामी न होता, लेकिन जब एक सिद्धान्त के लिए असत्य बोला गया, तब तो उसका दुष्प्रभाव दूरगामी हो गया। हजारों-लाखों वर्षों से यज्ञों में जो पशुवध हो रहा है, नर-बलि दी जा रही है उसकी जिम्मेदारी वसुराजा पर आ जाने के कारण वह असत्य घोरातिघोर हिंसा की परम्परा का कारण बना गया।

अतः ऐसे असत्य का, जिसे धर्म और संस्कृति का रूप मिलता हो, समर्थन करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

इसीलिए कहा है—देश और काल का विचार किये बिना, दुष्परिणामकारी, अप्रिय एवं दूसरों को नीचा दिखाने वाला, अकारण द्वेषकारी वचन बोला जाता है, वह वचन वचन नहीं, विष है।

> अदेशकालक्षमनार्यतिक्षयं यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः।
> योऽत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वचो, न तद्वचः स्याद् विषमेव तद्वचः॥

असत्य वचन : विष सदृश

असत्य का आश्रय लेकर आज तक कभी किसी ने कोई महत्त्वपूर्ण लाभ नहीं कमाया। यों किसी ने प्रारम्भ में कुछ लाभ प्राप्त भी कर लिया तो भी सदा के लिए वह समाज की नजरों में गिरकर हेय, परित्यक्त, अछूत जीवन बिताता है। क्या यह भी कोई जीवन है!

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में असत्य से होने वाली हानियों का उल्लेख करते हुए कहा है—

> असत्यवचनं प्राज्ञः प्रमादेनाऽपि नो वदेत्।
> श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमः॥
> असत्यवचनाद् वैरविषादाप्रत्ययादयः।
> प्रादुष्यन्ति न के दोषाः कुपथ्याद् व्याधयो यथा॥

अर्थात्—क्रोध या लोभ आदि के आवेश से असत्य बोलने की बात दूर रही, विवेकवान पुरुष को प्रमाद से, असावधानी से, संशय या अज्ञान से भी असत्य नहीं बोलना चाहिए। जैसे आंधी से बड़े-बड़े पेड़ उखड़कर गिर जाते हैं, उसी प्रकार असत्य से भी कल्याण [illegible]

जैसे कुपथ्य के सेवन से अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, वैसे ही असत्य वचन से वैर-विरोध, विषाद, अविश्वास आदि कौन-कौन-से दोष उत्पन्न नहीं होते ? मिथ्या भाषण करने से सभी दोषों की उत्पत्ति हो जाती है।

प्रसिद्ध मानसिक रोग विशेषज्ञ डाक्टर क्रुक्स ने अपने प्रयोगों आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि अपने काम-धंधे अथवा किसी अ कारणवश लगने वाले कर या जुर्माने को झूठ बोलकर बचा लेने वाले त दूसरे के लिये हुए पैसे को हजम कर जाने वाले व्यक्ति अपने लिए मानसि स्नायविक रोगों को निमंत्रण दे देते हैं। इस तरह झूठ बोलने से मानसि स्नायविक संस्थान में बड़ी गड़बड़ी और असंतुलन पैदा हो जाता है, जिस शारीरिक स्थिति पर भी भारी प्रभाव पड़ता है।

एक विशेषज्ञ ने लिखा है कि इस तरह झूठ-फरेब से कुछ पैसा बचाना जा सकता है, किन्तु इसके बदले होने वाली शारीरिक और मानसिक गड़ बड़ी इससे कहीं अधिक हानिकारक हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों की शारीरिक या मानसिक चिकित्सा की जाय तो असत्य के द्वारा कमाये हुए धन की अपेक्षा कहीं अधिक खर्च करना पड़ता है।

'पाप की कमाई मूल को भी ले डूबती है, असत्य द्वारा अर्जित धन नष्ट हो जाता है' इत्यादि नीतिकारों के वाक्य या महापुरुषों के उपदेश भी इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं।

मिथ्याभाषण और मिथ्याचार से शरीर और मन दोनों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। झूठ जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही बड़ा दुष्परिणाम पैदा करता है। झूठ बोलने से मनुष्य के रक्तचाप, नाड़ी-संस्थान, श्वास क्रिया, पाचन-प्रणाली, मस्तिष्क आदि प्रमुख अंगों पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। इनमें अव्यवस्था और व्यतिक्रम पैदा हो जाता है जिससे कई शारीरिक और मानसिक रोगों को जन्म मिलता है। झूठ बोलने से मनुष्य के मानसिक क्षेत्र में द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। हर व्यक्ति के जीवन में अन्तस्थ में निवास करने वाली नैतिक सत्ता के साथ असत्य बोलने की अनैतिक क्रिया का द्वन्द्व होने लगता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में अधिकांश व्यक्ति विक्षिप्त और मानसिक रोगी बन जाते हैं।

असत्य भाषण : मनोविकार का कारण

जिस मनुष्य में स्थायी रूप से असत्य बोलने की आदत बन जाती है, वह यह मान लेता, परिवार के सदस्यों व स्नेहियों के साथ भी झूठ

व्यवहार करने लगता है, तब सभी को उसके प्रति सन्देह और विरक्ति (घृणा) हो जाती है। झूठे व्यक्ति का कोई सच्चा सहयोगी, संगी, साथी नहीं रहता। धोखेबाज, झूठे और चालाक व्यक्ति का साथ उसके स्त्री-बच्चे भी नहीं देते।[1] असत्य भाषण करने से लोग उसे तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं। असत्यभाषी मनुष्य लोकनिन्दा का पात्र बन जाता है, बदनाम हो जाता है, उसे परित्यक्त व अपमानित जीवन बिताना पड़ता है। असत्यभाषण से अधोगति की प्राप्ति होती है, अतः ऐसे अनर्थकर असत्य का परित्याग करना ही श्रेष्ठ है।

असत्यभाषी, शंकाशील

असत्यवादी का बाह्य जीवन शुष्क, कृत्रिमतापूर्ण और नीरस बन जाता है। असत्य जितना बड़ा होता है, उतना ही अधिक तनाव मानसिक स्नायविक संस्थान में पैदा हो जाता है और तनाव की स्थिति में ही उत्तेजना, चिड़चिड़ाहट, भय और संदेह की क्रिया होने लगती है। प्रायः देखा जाता है कि झूठ बोलने वाले व्यक्तियों का स्वभाव चिड़चिड़ा, उत्तेजित, भयभीत एवं शंकाशील हो जाता है।

एक मनोवैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार भी जो व्यक्ति अत्यधिक झूठ बोलते थे, धोखादेही करते थे, वे अस्सी प्रतिशत चिड़चिड़े, उत्तेजित, क्रोधी, उद्विग्न, शंकाशील, वहमी, भयाकुल और बेचैन निकले, जो सत्यानुसारी थे, वे शान्त, गम्भीर, संतुलित, निश्चल, सरलहृदय और सुन्दर व्यक्तित्व के धनी निकले।

असत्यभाषण : अशान्ति का मूल

कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि मेरे साथ दूसरा कोई धोखेबाजी से भरा असत्य का व्यवहार करे, लेकिन वह स्वयं दूसरे के साथ असत्य एवं वंचनापूर्ण व्यवहार कर लेता है। जब वह अपने साथ इस प्रकार का व्यवहार देखता है तो उसे बड़ा रोष, क्रोध और द्वेष पैदा होता है। जिसने ऐसा किया है, उसके प्रति घृणा, द्वेष, उत्तेजना और प्रतिक्रिया की भावना उसके मन में पैदा होती है। उसे दण्ड देने, बदला लेने व अपमानित करने का वह भरसक प्रयत्न करता है। इस तरह असत्य जहाँ भी प्रयुक्त होता है, वहीं इस प्रकार के विष-बीज बो देता है। परस्पर द्वेष, क्रोध, घृणा और प्रतिशोध से

---

१. असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद् वचनीयता।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परिवर्जयेत्॥ —योगशास्त्र, २/५६

समाज में गंदगी और अशान्ति फैलती है। जिस समाज में इस तरह के झूठे बेईमान और धोखेबाज लोग अधिक होते हैं, वहाँ शान्ति, प्रेम, मैत्री, सद्भावना के सम्बन्ध चिरकाल तक नहीं रह पाते, प्रत्युत कलह, उपद्रव एवं आक्रमण की दुर्भावनापूर्ण प्रक्रियाएँ ही अधिक पनपती और बढ़ती हैं।

इस तरह असत्याचरण से मनुष्य का आन्तरिक एवं बाह्य जीवन अशान्त, असफल, असत्यमय एवं प्रपञ्ची बनकर रह जाता है।

जीवन का आधार : सत्य

सत्य : जीवन की सुव्यवस्था का आधार

मानव जीवन की सुव्यवस्था का आधार सत्य है, असत्य नहीं। सत्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है, असत्य नहीं। इस विशेषता के कारण सभी मनुष्य, खासकर चोर, लफंगे, बदमाश, उठाईगीरे आदि भी यह चाहते हैं कि लोग हमारे साथ सत्य बोलें, सत्याचरण करें, सत्य व्यवहार करें। दूसरों से झूठी बात सुनकर या असत्याचरण पाकर वे जल-भुन उठते हैं, प्रतीकार करने को उद्यत हो जाते हैं। वे यह नहीं देखते कि हम दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं ?

किन्तु एक बात जो सभी मनुष्यों में समान रूप से पाई जाती है, वह यह है कि सभी सत्य के प्रति आदरभाव रखते हैं, सत्यवादी का विश्वास करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि लोगों को प्रसन्नता, आदरभाव, व्यवस्था, स्वस्थ चिन्तन, परिपूर्णता और सुख की प्राप्ति सत्य से होती है, असत्य से नहीं। असत्य से परस्पर विश्वास प्राप्त नहीं होता। इमर्सन का यह कथन सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि "व्यापार जगत् में विश्वास-व्यवस्था का यदि लोप हो जाये तो सारे मानव समाज का ढांचा अस्त-व्यस्त हो सकता है।"

पारस्परिक विश्वास के बिना किसी से अधिक सम्पर्क भी नहीं रखा जा सकता। असत्य के अँधेरे में जब तक वस्तुस्थिति का भली-भाँति ज्ञान नहीं होता, तब तक भले ही कोई भ्रमवश विश्वास करले, किन्तु सत्य का प्रकाश होते ही असलियत सामने आजायगी; और तब घृणा और तिरस्कार, निन्दा और निरादर की परिस्थितियाँ आते देर नहीं लगेगी। जहाँ व्यवहार सुन्दर है, वहाँ समझ लो कि विश्वास है और जहाँ विश्वास है, वहाँ सत्य अवश्य है। इसलिए असत्य को जीवन का आधार बनाकर चलना बहुत भारी भूल है, क्योंकि इसमें दायित्व के प्रति अकर्तव्य की भावना है। असत्य से जीवन-व्यवहार चलाने में किसी अच्छे परिणाम की आशा नहीं रखी जा सकती।

वर्तमान काल : ठगी का जाल

इस बात की सत्यता का अनुमान वर्तमानकालीन परिस्थितियों से भलीभांति लगाया जा सकता है। वर्तमान युग में दूकानदार दूसरों को ठगने और अधिक धन कमाने की तृष्णा से दूध में पानी, शुद्ध घी में वनस्पति घी, खोये में आटा मिलाकर ग्राहक की जेब काट लेते हैं। इस पर थोड़ी देर के लिए उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है, किन्तु दूसरे ही दिन बच्चा बीमार होता है, तो वह डाक्टर के पास जाता है, डॉक्टर भी सस्ती दवाइयों के बहुत ऊँचे दाम लेकर उससे अनुचित फायदा कमाता है। डॉक्टर को वकील ठगता है। वकीलों को फर्नीचर तथा वैभव की सामग्री खरीदने में फर्नीचर वाले ठगते हैं, फर्नीचर वालों को इन्कम टैक्स वाले। इस तरह सारे के सारे लोग एक ही जाल में बुरी तरह जकड़े हैं, किसी को भी चैन नहीं मिल पाता। यह सारी अव्यवस्था इस कारण है कि लोगों में ईमानदारी व सत्यता की प्रवृत्ति नहीं रही और एक-दूसरे को ठगने के विषचक्र में फँसकर सभी लोग घाटा उठा रहे हैं।

लोग समझते हैं कि दूसरों को ठगना आसान है। इसे वे अपनी सफलता का आसान नुस्खा समझते हैं, किन्तु चालाकी देर तक छिपती नहीं है। अन्त में असलियत का पता चल ही जाता है। समय पर 'ढोल की पोल' खुले बिना नहीं रहती। जब सही वस्तुस्थिति का पता चल जाता है तो सभी उससे घृणा करने लगते हैं, दूर भागने लगते हैं। सचाई और ईमानदारी का ही मार्ग ऐसा है कि कोई कितना ही जांचे, परखे, कसौटी पर कसे, किन्तु 'सांच को आंच नहीं' की कहावत के अनुसार उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। प्रारम्भ में सत्यशील लोगों को भले ही कुछ हानि उठानी पड़े, किन्तु लोगों की दृष्टि में उनका मूल्य चढ़ जाता है, तब सम्मान भी मिलता है और सफलता भी प्राप्त होती है।

जो लोग सत्य में भय और असत्य में सुख मानते है, वे अत्यन्त भ्रम में हैं। उनके हृदय की वृत्तियाँ ही इस ढंग की बन गई हैं, जिस कारण वे ऐसा सोचने-समझने लग गये हैं। जैसे अफीम खाने वाला व्यक्ति अफीम खाने में सुख मानता है, किन्तु वास्तव में अफीम न खाने में ही सुख है; वैसे ही असत्य का आश्रय ग्रहण करने वाला व्यक्ति भी असत्य में सुख मानता है। किन्तु उसका यह व्यसन छूटते ही वह मानने लगेगा कि मैं भूल में था।

असत्य के स्रोत

शास्त्रकारों ने असत्यभाषण के मुख्य चार कारण बताये है—

'कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा'

—क्रोध के वश, लोभ के वश, भय के कारण और हास्यवश के मनुष्य झूठ बोलता है।

जब मनुष्य के स्वार्थ पर चोट पहुँचती है, या उसका कोई अपमान कर देता है तो वह क्रोधावेश में आकर उसका बदला लेना चाहता है। क्रोधाविष्ट पुरुष सभ्य होता है तो वह मार-पीट न करके उस व्यक्ति पर झूठा इलजाम लगाता है, उसे बदनाम करता है, उसका मर्म प्रकाशित करके उसे नीचा दिखाने के लिए असत्य बोलता है। क्रोधी व्यक्ति आवेश में आकर दूसरे के प्रति द्वेष करेगा, बुरा चिन्तन करेगा। इस प्रकार द्वेषवश मनुष्य अनिष्ट चिन्तन करता है, जो असत्य रूप होता है।

वास्तव में देखा जाय तो क्रोध के आवेश में मनुष्य बेभान हो जाता है, वह पागलों की तरह अंटशंट बकने लगता है, उस समय वह पिता-माता आदि का या बड़े-छोटे का का कोई विचार नहीं करता और जो मन में आता है, अनाप-शनाप बकता चला जाता है। अतिक्रोध को चाणक्य नीतिकार ने नरकगामी का चिह्न बताया है—

> अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी, दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
> नीचप्रसंगः कुलहीन सेवा, चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥

—अत्यन्त क्रोध, कड़वी वाणी, दरिद्रता, स्वजनों से वैर, नीच के साथ सम्पर्क एवं संगति, कुलहीन की सेवा, ये चिह्न नरकगामियों के शरीर में रहते हैं।

वस्तुतः क्रोध के कारण कटु-वचन बोलना, अनुचित रूप से दूसरों को दोष देना, निन्दा करना और स्वजनों के प्रति वैर करना ये असत्य के रूप हैं। अप्रिय वचन भी असत्य में समाविष्ट है।

असत्य का दूसरा कारण लोभ है। मनुष्य लोभ के वश व्यापार-धंधे में, नौकरी-पेशे में, कल-कारखाने में झूठ बोलता है। अनुचित मोह की आकांक्षा से मनुष्य झूठ बोलता है। बहुत-से लोग अपने व्यापार में झूठ बोलते हैं; धोखा-धड़ी, छल-कपट, ठगी, चालाकी आदि सब इसी के अन्तर्गत आते हैं। अपना काम बनाने, अपना स्वार्थ सिद्ध करने, अधिकाधिक उपभोग करने, व्यापार में अनुचित मुनाफा कमाने, समृद्धि की अधिकाधिक वृद्धि के लिए झूठ का आश्रय लेते हैं।

प्रसिद्धि, नाम, कीर्ति आदि की लालसा भी लोभ से ही उत्पन्न होती है। बहुत-से लोग अपनी प्रतिष्ठा, प्रशंसा, बड़ाई, कीर्ति, नामवरी के लिए झूठ बोलते हैं। अखबारों में या किसी पत्रिका में अपना झूठा [illegible]

करते हैं, अपने कार्य को बढ़ा-चढ़ाकर अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से कहते हैं या प्रकाशित कराते हैं, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनते हैं, अपनी शेखी बघारते हैं, अपनी प्रशंसा के पुल बाँधते हैं, लोगों में अपने को बड़ा कहलाने या सिद्ध करने के लिए जो भी कहना, करना या बताना आवश्यक समझते हैं, उसे निःसंकोच कहते या करते हैं।

तात्पर्य यह है कि किसी भी लाभ की प्राप्ति के लिए अनुचित, विपरीत या अतिशयोक्तिपूर्ण बोलना, लिखना, छपाना या कहना असत्य है।

इस प्रकार असत्य का आधार लोभ बनता है। लोभ सत्य का सबसे बड़ा शत्रु है। जिसे लोभरूपी पिशाच ने जकड़ लिया, वह सत्य की रक्षा नहीं कर सकता। लोभी सदैव ही अपने न्यायोचित अधिकार से अधिक पाने की लालसा रखता है। अधिकार से अधिक पाने के लिए लोभाविष्ट मनुष्य छल-कपट और झूठ-फरेब आदि अपकर्मों का आश्रय लेता है।

असत्य का तीसरा प्रमुख कारण भय है। किसी सजा, दण्ड या नुकसान से अपने आपको बचाने के लिए मनुष्य असत्य का अवलम्बन लेता है। कानून के विरुद्ध काम करने पर मिलने वाले दण्ड से, अपने दोषों के प्रगट होने से, असामाजिक कृत्यों के लिए मिलने वाली सामाजिक या राजनैतिक प्रताड़ना, दुराचार या पापाचार के कारण मिलने वाले दण्ड, सजा, अपमान आदि से बचने के लिए मनुष्य असत्य का आश्रय लेता है। माता-पिता के द्वारा दिये जाने वाले दण्ड या सजा से बचने के लिए बच्चों में भी झूठ बोलने की आदत पड़ती है। यही आदत आगे चलकर भयंकर अपराधों का कारण बनती है। अपनी पोल खुल जाने या अपमान होने, बदनाम होने या गलती के प्रगट हो जाने के डर से बहुधा लोग झूठ बोल जाते हैं, असलियत को छिपा लेते हैं।

झूठ बोलने का चौथा प्रमुख कारण हास्य है। अक्सर बहुत से लोग हँसी-मजाक में सत्य बोलने का ध्यान नहीं रखते। वे दूसरों को बेवकूफ बनाने के लिए उसकी मखौल उड़ाते हैं। वे ऐसी कुचेष्टा करते हैं तथा ऐसी सफाई से झूठ बोलते हैं जिसे दूसरा पकड़ न सके और उनके झाँसे में आ जाय। मजाक करने से कभी-कभी पारस्परिक मित्रता एवं प्रेमभाव समाप्त हो जाता है, संघर्ष की स्थिति आ जाती है और शत्रुता की गाँठ बँध जाती है। महाभारत युद्ध का एक प्रमुख कारण द्रौपदी का दुर्योधन के प्रति वह हास्य भी था, जिसमें उसने कहा था—अंधों के पुत्र भी अंधे ही होते हैं। मजाक ही मजाक में कई बार व्यक्ति अनावश्यक झूठ बोल देता है। फिर तुर्रा यह है कि इस झूठ को झूठ ही नहीं समझा जाता।

सत्यनिष्ठा के लिए बहुत बड़े खतरे हैं। इन विकारों को पालना-पोसना सांप को पालने-पोसने के समान है। ये विकार सत्यार्थी के लिए ये शत्रु हैं, जो उसे सत्य के पावन पथ से विचलित कर देते हैं। जिस मनुष्य या जिसके प्रति राग होगा, वह उसके दोषों को ढकने, उसमें अविद्यमान गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहने और उसका पक्षपात करने का प्रयत्न करेगा। अति-शयोक्तिपूर्ण प्रशंसाएँ और दोषों को छिपाने से असत्य का दानव जागेगा ही। जिससे द्वेष होगा, उस व्यक्ति के गुणों को आच्छादित करके व्यक्ति उसके दोषों को ही प्रगट करेगा, कभी-कभी उसमें अविद्यमान दुर्गुणों को उभारेगा, झूठा दोषारोपण करेगा, इससे सत्य को बहुत भयंकर खतरा है।

मोह तो स्पष्टतः अज्ञान है। मोहप्रेरित व्यक्ति अनिष्ट में इष्ट, हानि में लाभ और असत्य में सत्य की झलक पाने लगता है। मद और मत्सर ये दो अहंकार के ही प्रचण्ड रूप हैं। इनका प्रकोप व्यक्ति को कर्तव्य-भ्रष्ट, लोभी एवं स्वार्थी बना देता है। अहंकारी व्यक्ति दूसरे का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाता। वह अपने को ही संसार में सर्वश्रेष्ठ मान बैठता है। अपनी बात चाहे झूठी हो या सच्ची, मनवाना और दूसरे की बात न मानना उसका सहज स्वभाव होता है।

अपनी जाति, भाषा, वंश, देश, परिवार, सम्प्रदाय, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं विचारपद्धति का पक्षपात और स्वत्व-मोह मनुष्य को असत्य के गड्ढे में डालता है। अपना सो 'सच्चा', दूसरे का सो 'गलत'—यही असत्य का आश्रय है।

अपने दम्भ की रक्षा के लिए व्यक्ति सत्यासत्य की कोई परवाह नहीं करता। वह अकरणीय कृत्य भी कर बैठता है। इस प्रकार मद, मत्सर, मोह और अहंकार ये सत्य के देवता को पतन के गड्ढे में डाल देते हैं। इसलिए सत्यनिष्ठ व्यक्ति असत्य के इन स्रोतों से सदैव दूर रहता है।

मोहवश अपनी मानी हुई बात, विचार या कार्य के प्रति रागान्ध होकर मनुष्य को पक्षपात करते देखा जाता है। संसार के बहुसंख्यक व्यक्ति इस अनुपयुक्त विचार और कार्य पद्धति के अभ्यस्त हैं और अहंकारवश असत्य के शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार अपने-पराये का, प्राचीन-नवीन का मोह या पक्षपात मनुष्य को छोड़ना चाहिए और विवेक की कसौटी पर अपनी गतिविधियाँ, मान्यताएँ और विचारधारा को कसना या परखना चाहिए तभी सत्यासत्य का न्यायपूर्वक [illegible]
व्यक्ति अपनी मानी हुई रीति-नीतियाँ एवं [illegible]

9

नैतिक जीवन की आधार भूमि : अचौर्यव्रत

व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जीवन में नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अहिंसा और सत्य के पश्चात् तीसरा क्रम अचौर्य का है। अचौर्य शब्द चोरी का निषेधवाचक है। अतः चोरी क्या है, कैसे है, क्यों की जाती है, इसके कारण और प्रकार क्या है, कितने भेद और उपभेद हैं, इसको करने के कितने तरीके हैं, इसकी हानियाँ क्या हैं और चोरी करने वाले को कैसे-कैसे कटु परिणाम भोगने पड़ते हैं, इन सब बातों को जानकर भली-भाँति हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। अतः आज मैं आप लोगों के समक्ष इन्हीं बातों पर प्रकाश डालूँगी। क्योंकि चोरी के सम्बन्ध में सब कुछ जान लेने के पश्चात् ही आप लोग इससे विरत होने में सक्षम हो सकेंगे।

चोरी का स्वरूप

सर्वप्रथम यह जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि चोरी क्या है? मनुष्य की किस क्रिया की परिगणना चोरी में होती है और किस क्रिया की नहीं होती?

एक-दो उदाहरणों के माध्यम से मैं विषय को स्पष्ट करूँगी।

आपका दस वर्षीय पुत्र किसी दिन आपसे बिना पूछे ही आपके पर्स से एक रुपये का सिक्का निकाल ले जाता है और आप अपने हाथ से उसे दस रुपये दे देते हैं अथवा वह आपसे पूछकर ले जाता है।

आपके आफिस का कैशियर आपसे बिना पूछे रुपये ले जाता है तथा दूसरी ओर वह आप से पूछकर रुपये ले जाता है।

आपका मित्र बिना बताये ही आपकी टेबल से आपकी रिस्ट वाच ले जाता है तथा दूसरी ओर आप स्वयं उसे दे देते हैं।

इन तीनों उदाहरणों में आप चोरी उसे ही कहेंगे जो वस्तु आपकी बिना अनुमति के ही ली गई है और जो वस्तु अनुमति से ली गई है, वह चोरी नहीं है।

इसीलिए जैनशास्त्रों में चोरी के लिए 'अदत्तादान' शब्द का
हुआ है।

चोरी की परिभाषा देते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

अदत्तादानं स्तेयम्[1]

—अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को लेना चोरी है।

सूत्रकृतांग सूत्र में भी कहा गया है—

अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा

—अर्थात् बिना दी हुई कोई भी वस्तु मत ग्रहण करो।

नारद संहिता में चोरी का लक्षण इस प्रकार दिया है—

उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम्।
सुप्त मत्त प्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः॥

—अर्थात् सोये हुए, शराब के नशे में चूर, प्रमादी अथवा असाव
व्यक्तियों से विविध उपायों और छल, छद्म, कूड-कपट द्वारा उनके धन भ
साधनों का अपहरण कर लेने को मनीषी गण चौरकर्म अथवा स्तेय
कहते हैं।

सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात ने कहा है—

To take one's just possession without one's consent
stealing.

—अर्थात् किसी की अनुमति के बिना उसके न्यायपूर्ण स्वामित्व
वस्तु को ले लेना चोरी है।

इसी प्रकार के विचार चोरी के संबंध में मुस्लिम धर्म में भी व्यक्त
किये गये हैं।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि बिना दी हुई अथवा वस्तु के स्वामी
की आज्ञा अथवा अनुमति लिए बिना किसी वस्तु को ले लेना, अपने पास
रख लेना, अपने अधिकार में कर लेना अथवा उस वस्तु का उपयोग-उपभोग
कर लेना चोरी है।

चोरी का यह लक्षण परिवार, समाज, देश, प्रान्त, राष्ट्र सभी
व्यापक है। परिवार में यद्यपि सभी का समान अधिकार माना जाता है
सभी पारिवारिक सम्पत्ति के स्वामी माने जाते हैं, पिता की सम्पत्ति पर पुत्र
का अधिकार होता है, फिर भी यदि पुत्र बिना पिता की अनुमति के चुराकर

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ७.१०

हो उसके पर्स से रुपये निकाल ले जाता है, अथवा माता की पेटी से कोई आभूषण निकाल ले जाता है तो पुत्र का वह कर्म चौर्यकर्म कहलाता है और उसकी उसे ताड़ना-तर्जना दी जाती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति समाज, प्रान्त, देश, जाति के किसी अन्य व्यक्ति की कोई वस्तु बिना उसकी अनुमति के ले लेता है, चाहे वह उसकी जेब काटे, चाहे घर में सेंध लगावे, तो वह चोरी कहलाती है। ताले में चाबी मिलाना, ताला तोड़ना, सेंध लगाना, निर्जन स्थान पर डरा-धमकाकर धन छीन लेना, राह चलते व्यक्ति की जेब से उसका पर्स उड़ा ले जाना, महिलाओं की जंजीर खींच ले जाना, राहजनी करना—ये सब चोरी के ही विविध रूप हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र के अदत्तादान आस्रव द्वार में चोरी के ३० नाम गिनाये गये हैं। उनमें से कुछ प्रमुख नाम ये हैं—

चोरिक्क, परहडं, अदत्तं, कूरिकडं, परलाभो....परधणम्मिगेही, तक्करत्तणंति.... हत्थलहत्तणं, पावकम्मकरणं........

—अर्थात् चोरी, दूसरे की वस्तु का हरण कर लेना, बिना दी हुई किसी अन्य की वस्तु ले लेना, क्रूरकर्म, दूसरों के धन से अनुचित लाभ उठाना....पराये धन में गृद्धता रखना, तस्कर कृत्य, हस्तलाघव—दूसरे की वस्तु उठाने में हाथ की सफाई या हस्तकौशल दिखाना, पाप कर्मों का कारण .. आदि आदि।

इन नामों से ही आपको ज्ञात हो जायेगा कि चोरी का क्षेत्र कितना व्यापक और विस्तृत है।

चोरी के प्रकार

चोरी के आधुनिक युग में इतने प्रकार प्रचलित हैं और दिनोंदिन नये-नये ऐसे-ऐसे तरीके प्रचलन में आ रहे हैं कि सुनकर हैरान रह जाना पड़ता है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक उन्नति हो रही है त्यों-त्यों चोरी के भी वैज्ञानिक तरीके प्रकाश में आ रहे हैं। नौकरी दिलाने के बहाने विज्ञापन देकर लोगों से धन ऐंठना, जालसाजी करना, ऐसी सफाई से लोगों को ठगना कि वे हाथ मलते ही रह जायें आधुनिक युग के तथाकथित बुद्धिमान मनुष्य ने अपनी विशेषता बना रखी है।

दिल्ली की घटना है। एक चतुर व्यक्ति ने समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिया—'स्कूटर बुक कराने वालों के लिए सुनहरा अवसर। फार्म की फीस १०) रुपये जो वापिस नहीं होगी। इसके अतिरिक्त २५०) रुपये बैंक ड्राफ्ट द्वारा जमा कराएँ जो स्कूटर देने समय कीमत में से कम कर दिये जायेंगे अथवा बुकिंग कैंसिल कराने पर प्रार्थी वापि

लोग उसके पास गये। बड़ा शानदार बिल्कुल टिप-टाप आफिस था। दो-चार क्लर्क और टाइपिस्ट भी थे। बाहर ही चौकीदार बैठा था। उस व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बड़ा प्रभावशाली था। कीमती सूट पहने बैठा था। बातचीत का लहजा भी आकर्षक था। लोग प्रभावित हुए। धड़ाधड़ बुकिंग होने लगी। दिल्ली जैसा महानगर। दूर-दूर स्थान। आवागमन के निजी साधन की अति अनिवार्यता। तीन महीने में ही एक लाख से अधिक लोगों ने स्कूटर के लिए नाम लिखा लिये।

तीन महीने बाद फिर समाचार-पत्रों में सूचना निकली—स्कूटर की एजेन्सी कैंसिल हो गई है, जिन लोगों ने धन जमा कराया है, वे अपना पैसा वापिस ले लें।

उसने बैंकड्राफ्ट का धन सभी को वापिस कर दिया, किन्तु फार्म के १०) रुपये तो वापिस देने योग्य थे ही नहीं, non-refundable थे।

इस प्रकार उसने बड़ी सफाई से जनता के दस लाख रुपये तो फार्मों के ही ठग लिए और बैंक ड्राफ्टों की जो ब्याज उसने ली वह अलग।

ऐसे बुद्धिमान ठगों का कानून भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

इसी प्रकार के बुद्धि के खेल आये दिन होते रहते है। कभी समाचार पत्रों में सूचना मिलती है कि नोट दुगने कराने के लोभ में अमुक व्यक्ति ठगा गया तो कभी किसी महिला के ठगे जाने का समाचार छपता है। इनके अतिरिक्त नये-नये तरीकों से किये गये गबन, चोरी, लूटमार, राहजनी आदि विभिन्न प्रकार की चोरियों के समाचार छपते रहते है।

आधुनिक युग में चोरी भी स्तर की होने लगी है और चोर भी सफेदपोश लोग होते है। पाश्चात्य देशों में तो ऐसे लोगों को White collar criminals कहा जाता है। ये लोग इतने उच्चस्तर से रहते है तथा अपने रहन-सहन का ढंग एवं चारों ओर का वातावरण ऐसा बनाये रखते है, कि पुलिस के बड़े से बड़े अधिकारी भी उन पर शक नहीं कर पाते। वे भी चक्कर में पड़ जाते हैं।

इंगलैंड के प्रसिद्ध जासूसी और पुलिस विभाग स्काटलैंड यार्ड की रिपोर्ट में एक बार छपा था कि एक व्यक्ति बहुत ही शानदार ढंग से रहता था। था तो वह अपराधी किन्तु उसका स्तर इतना ऊँचा था कि उस पर शक होने का सवाल ही नहीं था। उसका चोरी का तरीका भी बड़ा गुप्त हुआ था। उसने एक तिजोरी बनाने वाली कंपनी के मैनेजर से

मित्रता कर रखी थी। उसके पास जब-तब जाता-आता रहता था। वहीं से वह यह पता लगा लेता था कि किस नंबर की तिजोरी किस व्यापारिक संस्थान ने खरीदी है। उस नंबर की चाबी का डिजायन भी वह वार्तों-बातों में जान लेता था। फिर चाबी बनाकर ऐसी सफाई से हाथों में रबड़ के दस्ताने पहनकर माल उड़ाता कि कोई सबूत बाकी न छोड़ता। उसकी *निजी डायरी जिसमें चाबियों के नंबर, डिजायन और खरीदार व्यापारिक* संस्थानों के पते लिखे थे, जब पुलिस के हाथ पड़ गई तब इसका अपराध प्रमाणित हो सका।

इसी प्रकार चोरी के अनेक नये-नये तरीके और प्रकार आधुनिक युग में ईजाद हो रहे हैं।

आवश्यकसूत्र में स्थूल अदत्तादान (चोरी) के पाँच प्रकार बताए गये हैं—

अदिण्णादाणे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—

खयखणणं, गंठिभेयणं, जतुग्घाडणं, पडियवत्थुहरणं, ससामियवत्थुहरणं।

अर्थात्—अदत्तादान अथवा चौर्यकर्म पाँच प्रकार का होता है, *यथा*—(१) खात खनना अथवा दीवार फोड़ना या सेंध लगाना, (२) गाँठ खोलना, गाँठ काटना या गठड़ी खोलना, (३) ताला या सील तोड़ना अथवा ताले की चाबी मिलना, तिजोरी खोलना (४) यह जानते हुए कि इस वस्तु का स्वामी अमुक व्यक्ति है, उस गिरी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई अथवा रखी हुई वस्तु को उठाना, और (५) स्वामी की उपस्थिति में ही डाका डालकर, लूटकर, छीनकर, जेब काटकर, अस्त्र-शस्त्र आदि दिखाकर और विभिन्न प्रकार की धमकी देकर आदि विविध उपायों से उसकी वस्तु को छीन लेना।

यों तो चोरी के अनेक प्रकार है; किन्तु स्थूल चोरी के निम्न प्रकार प्रमुख हैं—

१. छन्न चोरी २. नजर चोरी, ३. ठगी ४. उद्घाटक चोरी ५. बलात् चोरी और ६. घातक चोरी।

(१) छन्न चोरी—*इस प्रकार की चोरी गुप्त रूप से अथवा स्वामी की* नजर या दृष्टि बचाकर की जाती है। इसमें वस्तु इतनी सफाई अथवा कुशलता से उड़ाई जाती है कि मालिक को ज्ञान नहीं हो पाता। साधारणतया यह चोरी स्वामी की अनुपस्थिति में की जाती है।

(२) नजर चोरी—इस प्रकार की चोरी वस्तु के स्वामी की आँखों के सामने ही, उसकी उपस्थिति में ही की जाती है। दर्जी, सुनार आदि इस

चोरी के बहुत उदाहरण हैं। वे [illegible] के सामने ही चोरी कर लेते हैं। [illegible] के लिए जो [illegible] कर लेता है कि वह अपनी इच्छा से [illegible] उसके समस्त चोरी कर लेता है। इसीलिए इस चोरी को [illegible] करार दिया गया है।

(3) छल चोरी—यह चोरी छल कपट द्वारा की जाती है। इसमें मनुष्य इस प्रकार का बाह्य आडंबर, ढोंग तथा दिखावा रचता है कि लोग उसके जाल में फँस जाते हैं और वह उन्हें मूर्ख बनाकर उनके धन का अपहरण कर लेता है। ऐसे ठगों को धूर्त कहा जाता है और इस क्रिया को धूर्तता कहते हैं।

धूर्त लोग वाणी और बुद्धि के धनी होते हैं। वे इस प्रकार की मीठी भाषा बोलते हैं कि लोग उनके बहकावे में आ जाते हैं, उनके कपट को जान नहीं पाते और जब ठगे जाते हैं और परिणाम सामने आता है तो हाथ मल-मलकर पछताते हैं।

आधुनिक युग में इस प्रकार की छल चोरी बहुत होती है। ऐसे लोग बड़े सभ्य और विनम्र होते हैं, उनका व्यवहार भी बड़ा मीठा और शालीन होता है। क्रोध तो उन्हें आता ही नहीं, उनका मन-मस्तिष्क सदा ही नई-नई कपट-योजनाएँ बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने में संलग्न रहता है।

बेरोजगारों को रोजगार दिलाने का प्रलोभन देकर उनसे धन ठगना इस प्रकार की चोरी का आधुनिक ज्वलंत उदाहरण है।

कुछ दिन पहले समाचार पत्रों में सूचना छपी थी कि एक जाली (Bogus) कंपनी ने केरल की कुछ युवा लड़कियों को अरब देशों में नौकरी दिलाने का वायदा करके उनसे धन ठग लिया, यहाँ तक कि वीसा (Pass port) दिलाकर जहाज में बिठा दिया। सऊदी अरब पहुँचने पर उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ कोई नौकरी नहीं है, तब वे बेचारी बड़ी परेशानी में पड़ीं।

कानपुर के एक 'विशारद' के विद्यार्थी ने तो कमाल ही कर दिया। उसने बड़े-बड़े नेताओं और विदेशी राजदूतों के लैटर पैड छपवा लिये, यहाँ तक कि प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का लैटरपैड भी छपवा लिया, और उनके नाम से ठगी करने लगा। आखिर, यह पोल कब तक चलती? अधिकारियों को शक हो गया, मामला पुलिस में पहुँचा, जाँच हुई, तब भंडाफोड़ हुआ। न्यायाधीश भी इस सत्रह वर्षीय बालक की ठग योजना को देखकर दंग रह गया। उसी समय उसकी विशारद की परीक्षाएँ होने वाली थीं, साथ ही वह नाबालिग भी था। अतः परीक्षा न दे सकने के कारण उसका

जीवन बरबाद न हो जाय तथा साथ ही भविष्य में सुधरने की आशा से न्यायाधीश ने उसको पेरोल (Parol) पर छोड़ दिया।

(४) उद्घाटक चोरी—ताला तोड़कर, गाँठ खोलकर अथवा दरवाजा तोड़कर किसी का सामान लेकर चुपके से चंपत हो जाना, इस प्रकार की चोरी है। इस प्रकार की चोरी के समाचार आये दिन समाचार पत्रों में छपते रहते है। वस्तु के स्वामी को नशीली वस्तु सुँघाकर आभूषण आदि ले जाने की अनेक घटनाएँ होती रहती हैं। आगरा की घटना है—एक युवा पुत्र अपनी वृद्धा और विधवा माता को क्लोरोफार्म सुंघाकर उसके सभी आभूषण ले गया।

(५) बलात् चोरी—यह चोरी बलपूर्वक की जाती है। इसे साधारण भाषा में राहजनी कहा जाता है। रास्ता चलते हुए किसी व्यक्ति की घड़ी, चेन आदि कीमती वस्तु उसे धमकी देकर, चाकू अथवा रिवाल्वर दिखाकर छीन लेना बलात् चोरी है। आजकल के पढ़े-लिखे तथा गुण्डे, बदमाश नवयुवक इस प्रकार की चोरियाँ बहुत करने लगे हैं।

(६) घातक चोरी—इस प्रकार की चोरी में बल प्रयोग तो होता ही है, साथ ही चोरी करने वाला वस्तु के स्वामी अथवा संरक्षक की हत्या भी कर देता है। किसी बैंक आदि में डाका डालना घातक चोरी है; क्योंकि चौकीदार आदि की हत्या भी कर दी जाती है। इसी प्रकार दुकान, घर आदि में भी डाका डालते समय गृहस्वामी अथवा पूरे परिवार की हत्या भी करनी पड़ती है।

चोरी के कुछ अन्य प्रकार

इन मुख्य प्रकारों के अतिरिक्त चोरी के कुछ अन्य प्रकार भी हैं—

(१) नाम चोरी—अन्य व्यक्ति के द्वारा किये गये किसी अच्छे काम को अपने नाम से प्रचारित करा देना। इस चोरी के मूल में व्यक्ति की यश कामना रहती है। वह बिना परिश्रम और योग्यता के ही समाज में यश पाना चाहता है। इसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति की कविता अथवा साहित्यिक कृति कुछ शब्दों का फेर-फार करके उसे अपने नाम से छपवा देना। अंग्रेजी में ऐसी चोरी को Palgyrism कहा जाता है।

नाम चोरी नाम-साम्य द्वारा भी की जाती है। जैसे—किसी बड़े लेखक का नाम अपने नाम से मिलता हो तो यह प्रचारित कर देना कि यह कृति मेरी है। इतना ही नहीं, यदि मित्रगण उस कृति की प्रशंसा करें

कहें कि 'आपकी यह रचना अति उत्तम है' तो यह सुनकर खुश हो जाता। यथार्थ न कहना भी चोरी है।

(२) **धरोहर अथवा गिरवी रखी वस्तु का प्रयोग**—धरोहर अथवा गिरवी रखी वस्तु का प्रयोग करना भी चोरी है। उदाहरणार्थ—किसी संस्था का धन अमुक व्यक्ति के पास रखा है तो उसे यह सोचकर अपने काम में ले लेना कि जब संस्था को जरूरत होगी तब दे देंगे तब तक तो इससे लाभ उठा ही लें। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह व्यक्ति संस्था को उसकी जमा रकम पर ब्याज देता हो तो वह उसका इस्तेमाल कर सकता है; तब वह चोरी नहीं है।

इसी प्रकार किसी के गिरवी रखे गये आभूषणों को पहनना भी चोरी ही है।

(३) **आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह**—महात्मा गांधी ने चोरी का एक अन्य प्रकार भी बताया है। नैतिक आचार की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना चोरी है।

यह चोरी सामाजिक अपराधों का कारण बनती है। वस्तुओं के एक स्थान पर एकत्र हो जाने से समाज में विषमता फैलती है, अनेक व्यक्ति को उसके उपभोग से वंचित रहना पड़ता है, उनका जीवन अभावों और कष्टों से भर जाता है। परिणामस्वरूप समाज में असंतोष फैलता है और कभी-कभी तो इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि विप्लव हो जाता है तथा सामाजिक शांति नष्ट हो जाती है। वर्तमान युग के मजदूर आन्दोलन आदि इसी के परिणाम हैं।

(४) **शक्तियों का समाज हित में उपयोग न करना**—इसे दूसरे शब्दों में शक्ति-गोपन भी कहा जाता है। संसार में पूर्ण रूप से शक्तिहीन कोई मनुष्य नहीं होता। किसी के पास बुद्धि-बल होता है तो किसी के पास शरीर-बल, किसी के पास प्रचुर धन होता है तो किसी की वाणी प्रभावशालिनी होती है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियाँ मनुष्यों के पास होती हैं। उनका जनहित अथवा समाज हित में उपयोग न करना चोरी है।

इसको चोरी इसलिए माना गया है कि मनुष्य अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति विस्मृत न हो जाय। बन्धुओ! यह एक तथ्य है कि मनुष्य अपने जीवन विकास और उन्नति के लिए सामाजिक सहयोग लेता ही है, समाज के सहयोग के बिना वह जीवित ही नहीं रह सकता। आप स्वयं

सोचिए, यदि मनुष्य समाज का त्यागकर वन में एकाकी रहने लगे तो उसकी स्थिति कैसी हो जायगी ? क्या वह किसी प्रकार की आत्मिक अथवा भौतिक उन्नति कर सकेगा ? भोगभूमि का मनुष्य जब तक प्रकृति की गोद में रहता था तब तक उसे ज्ञान का तथा धर्म का प्रकाश भी नहीं प्राप्त हो सका; *सामाजिकता पनपने के बाद ही उसे विभिन्न कलाओं, विद्याओं और धर्म का* प्रकाश मिला तथा वह अपनी उन्नति कर सका। इसीलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने सामाजिक कर्तव्यों की कभी अवहेलना न करे।

(५) **उपकार-विस्मृति**—मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है कृतज्ञ होना। जिस किसी ने उसके साथ तनिक भी उपकार किया है, उसके प्रति सदा कृतज्ञ रहे। उपकार को विस्मृत होना, उपकारी का नाम छिपाना, उपकार विस्मृति चोरी है। वस्तुतः यथार्थ सत्य या गोपन करना चोरी है।

(६) **कर्तव्य चोरी**—अपने-अपने विहित कर्तव्यों को न करना, कर्तव्य चोरी है। जैसे—माता-पिता का पुत्र के प्रति क्या कर्तव्य है, पुत्र का पिता के प्रति क्या कर्तव्य है ? इसी प्रकार समाज के प्रति, राष्ट्र-देश-प्रान्त, जाति आदि के प्रति जो सामाजिक रीति-रिवाजों, उचित एवं लाभकारी परंपराओं तथा धार्मिक मर्यादाओं द्वारा कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति को पूरे करने चाहिए। कर्तव्यों को सही ढंग से पूरा न करना चोरी है।

(७) **सभ्य चोरी**—आधुनिक युग की एक अन्यतम विशेषता है—सभ्य चोरी। ऐसी चोरी करने वाले व्यक्ति चोरी करने के उपरान्त भी समाज में सभ्य और प्रतिष्ठित बने रहते है। इस चोरी का साधन हैं—समाचार-पत्र-पत्रिकाएँ। अखबारों में इस प्रकार के विज्ञापन साधारणतया छपते रहते है—'जापानी रेडियो पचास रुपये में,' 'असली अमेरिकन मॉडल रिवाल्वर पन्द्रह रुपये में,' 'सदा एक-सा समय देने वाली रिस्टवाच सौ रुपये में,' आदि-आदि। इन विज्ञापनों को पढ़कर लोग ललचा जाते है, उन वस्तुओं को मँगा लेते है किन्तु जब देखते हैं तो रेडियो का सिर्फ केस ही होता है, रिवाल्वर के नाम पर दो रुपये वाला तमंचा होता है तथा पचास पैसे वाली बच्चों की घड़ी होती है। तब वे सिर धुनकर पछताते हैं। इसी प्रकार पहेली प्रतियोगिताओं के भी अधिकांश विज्ञापन लोगों को फँसाने के कपट-जाल मात्र होते हैं। इन विज्ञापनदाताओं की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि जल्दी-जल्दी कंपनी का नाम बदलते रहते है। इस कारण न इन्हें इनके शिकार ग्राहक पकड़ पाते हैं और न सरकार ही इनका कुछ बिगाड़ पाती है।

इस प्रकार की सभ्य चोरियाँ आजकल इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि व्यक्ति को पग-पग पर सावधान रहना पड़ता है।

जैन शास्त्रों में वस्तु की अपेक्षा चोरी के चार प्रकार बताए गए हैं—

(१) द्रव्य चोरी—धन-धान्य, सोना, चाँदी, आभूषण आदि का अपहरण कर लेना।

(२) क्षेत्र चोरी—क्षेत्र का अर्थ भूमि तथा भूमि से संलग्न वस्तुएँ हैं। किसी की भूमि, मकान, दूकान, खेती आदि बलपूर्वक अथवा कानूनी दाँव-पेचों द्वारा अपने अधिकार में कर लेना।

(३) काल चोरी—इसमें समय के माध्यम से चोरी की जाती है। जैसे—वेतन, ब्याज, किराया आदि के लेन-देन में अधिक या कम समय बताकर धोखा देना। दैनिक वेतनभोगी कर्मचारी को यह कहकर कि 'तुमने पूरे आठ घंटे काम नहीं किया है।' उसको नियत धन राशि से कम देना; अथवा कर्मचारी सुबह ६ बजे आये तो १० बजे का समय लिखना और ६ बजे शाम को जाये तो ५ बजे का समय लिखना तथा इस प्रकार उसे कम धनराशि देना, उसके वेतन में से पैसे कम कर लेना।

(४) भाव चोरी—किसी लेखक, कवि, साहित्यकार के भावों को चुराकर अपने बताना, अपनी आयु कम अथवा अधिक बताना आदि भाव चोरी हैं।

भाव चोरी का सबसे भयंकर रूप है—शास्त्रों के शब्दों तथा अर्थों को बदल देना। अपनी मान्यतानुसार तोड़-मरोड़कर आगमों का अर्थ निकालना, वीतराग-भगवान की वाणी का अपलाप करना। स्वरचित तथा अपनी मान्यता को पुष्ट करने वाले वाक्यों अथवा सूत्रों को आगमों में प्रक्षिप्त कर देना तथा उन्हें भगवान तीर्थंकर के वचन कहकर प्रचारित करना तथा इसी प्रकार के अन्य फेर-फार सिद्धान्तों में कर देना।

चोरी का यह प्रकार इतना भयानक है कि इसके परिणामस्वरूप मनुष्य को नरकों में तीव्र तथा घोरातिघोर कष्ट सहन करने पड़ते हैं और अनन्तकाल तक निगोद राशि में भ्रमण करना पड़ता है।

चोरी के इन प्रकारों के अतिरिक्त जैन शास्त्रों में दूसरी अपेक्षा से भी वर्गीकरण किया गया है। जिन प्राणियों की चोरी की जाती है उनकी अपेक्षा से चोरी के चार भेद अथवा प्रकार बताये गये हैं—

> सामी जीवादत्तं, तित्थयरेणं तहेव य गुरुहिं।
> एवमदत्तसरूवं परूवियं आगमधरेहिं ॥[1]

१. (क) प्रश्नव्याकरण सूत्र—संवरद्वार ३, सूत्र २६ की टीका
(ख) धर्मसंग्रह २/२० की टीका

अर्थात्—(१) स्वामी-अदत्त (२) जीव-अदत्त (३) तीर्थंकर-अदत्त तथा (४) गुरु-अदत्त। इन सबका अर्थ स्पष्ट है।

साधारण व्यक्ति इन चार की चोरी करता है।

कहीं-कहीं और विशेष रूप से श्रमण प्रतिक्रमण में चोरी के पाँच प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता है। वे हैं—(१) देव-अदत्त (२) गुरु-अदत्त, (३) राजा-अदत्त, (४) गृहपति-अदत्त और साधर्मी-अदत्त।

पहले जो मैंने आपको चोरी के द्रव्य-चोरी आदि भेद बताये हैं, इनमें द्रव्य-चोरी के आधारों से अवान्तर भेद भी किये हैं। विनिमय चोरी, विभाग चोरी, अनुज्ञा चोरी आदि चोरी के विभिन्न प्रकार द्रव्य चोरी में ही अन्तर्निहित किये जाते हैं।

विनिमय चोरी का अभिप्राय है—लेन-देन में चोरी करना। कम या अधिक तोलना, वस्तुओं में मिलावट करना, अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी दे देना आदि व्यापारिक जगत में साधारणतया देखा जा सकता है। इसी प्रवृत्ति के कारण आज के व्यापारियों पर से जनता का विश्वास उठ गया है; क्योंकि वे लोग असली माल कहकर ग्राहक को नकली वस्तु दे देते हैं।

विभाग अर्थ है विभाजन अथवा बँटवारा। बँटवारे के समय पक्षपात करना—स्वयं अधिक ले लेना और दूसरे को कम देना विभाग चोरी है। इस प्रकार की चोरी लोभ के कारण तो होती ही है, साथ ही इसमें अपने-पराये की भावना भी प्रमुख रहती है। ऐसी चोरी पंच लोग भी कर जाते हैं। वे लोग अपने पक्ष के व्यक्ति के पक्ष में निर्णय दे देते हैं। इस प्रकार की चोरी का दुष्परिणाम दुःखदायी होता है और अदालतों के चक्कर में पड़कर व्यक्ति बरबाद हो जाता है। दोनों पक्षों में शत्रुता की गाँठ पड़ जाती है, वे एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। अदालतों में चलने वाले केस और पारस्परिक संघर्ष तथा कलह का कारण यह विभाग चोरी ही है।

अनुज्ञा चोरी का सम्बन्ध भावचोरी से होता है। भावचोरी के बारे में मैं आपको पहले ही बता चुका हूँ। व्यावहारिक दृष्टि से इसको थोड़ा और स्पष्ट करके बताता हूँ।

माता-पिता, अभिभावक अथवा संरक्षक की अनुमति प्राप्त किये बिना किसी वस्तु या पदार्थ को चुपचाप उठाकर, उसका उपयोग कर लेना भी अनुज्ञा चोरी है।

अनुज्ञा चोरी के लिए शास्त्रों में स्पष्ट विधान है कि साधु-साध्वियों को अनुमति लेकर ही किसी भी वस्तु को ग्रहण करना चाहिए; किन्तु व्यवहार की भाषा

अर्थात्—दूसरों का धन हरण करने वाला (चोर) निर्दय एवं परलोक के परिणामों के प्रति लापरवाह होता है।

उपदेश प्रासाद में स्पष्ट चेतावनी देते हुए चोरी के दुष्परिणाम बताए हैं—

दौर्भाग्यं च दरिद्रत्वं लभते चौर्यतो नरः।

अर्थात्—चोरी से मनुष्य दुर्भाग्य एवं दरिद्रता पाता है।

यह तो रही धर्मग्रन्थों की बात! आप व्यावहारिक जीवन में प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि चोरी करने वाले को सारा समाज तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, सरकार भी उसे कठोर दंड देती है। डाकुओं को मौत के घाट उतार दिया जाता है। जेबकट, राहजनी करने वाले भी जब जनता के हत्थे चढ़ जाते है तो अच्छी तरह उनकी पाद-पूजा हो जाती है।

वसुनन्दी श्रावकाचार में चोरी के इहलौकिक कटु-परिणामों का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है—

अण्णो वि परस्स धणं जो हरइ, सो एरिस फले लहइ।
एवं भणिऊण पुण्णो णिज्जइ, पुरबाहिरे तुरियं ॥१०८॥
णेत्तुद्धारं अहं पाणिपायग्गहणं णिसुंभणं अहवा।
जीवंतस्स वि सूलसवा रोहणं कीरइ खलेहिं ॥१०९॥
एवं पिच्छंता वि हु पर दव्वं चोरिआहिं गेण्हंति।
ण मुणंति कि पि सहियं पेच्छह हो मोहमाहप्पं ॥११०॥

अर्थात्—जो मनुष्य दूसरों का धन हरण करता है, वह इस प्रकार के दुष्परिणाम प्राप्त करता है—लोग उसे पापी, चोर आदि कहकर तुरन्त नगर से बाहर ले जाते हैं, खलजन उसकी आँखें निकाल लेते हैं हाथ-पैर काट देते हैं, जीवित ही शूली पर चढ़ा देते हैं। इस प्रकार की चोरी का दुष्परिणाम देखकर भी लोग दूसरों का धन हरण करते हैं, अपने हिताहित की बात नहीं समझते—यही आश्चर्य है।

चोरी के कारण

वस्तुतः यह आश्चर्य ही है कि अनेक प्रकार की यातनाएँ-बाधाएँ-पीड़ाएँ तथा दंड भोगने के बाद भी मनुष्य चौर्यकर्म से विरत नहीं होते। चोर एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी चोरी करता ही चला जाता है, उसे छोड़ता नहीं। अतः चोरी के कुछ विशेष कारण होने चाहिए, जिनके कारण मनुष्य चोरी जैसे निंद्य कर्म को अपना लेता है, उसका त्याग नहीं करता है।

चोरी के कारणों का विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है—(१) आंतरिक अथवा अंतरंग कारण, (२) बाह्य कारण और (३) आधुनिक युग के कुछ प्रमुख प्रेरक कारण जो मनुष्य को चोरी की प्रेरणा देते हैं।

चोरी के आन्तरिक कारण

चोरी के अंतरंग कारणों का विवेचन करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

> रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तो व सत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
> अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं॥

अर्थात्—जो मनुष्य रूप के विषय में अतृप्त है, सन्तुष्ट नहीं है और रूपवान वस्तुओं के परिग्रह में आसक्त है। रूपवान (सुन्दर एवं आकर्षक) वस्तुओं के समस्त परिग्रह की भी जिसे सदा लालसा लगी रहती है। ऐसा लोभाविष्ट तथा असंतोष के प्रबल वेग से व्याकुल मनुष्य दूसरों की चोरी करने पर उतारू होता है।

इस गाथा से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि चोरी का मूल कारण लोभ, आसक्ति, अतृप्ति और असंतोष है। जो व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है, परिग्रह में जिसकी लालसा रहती है, अपने साधनों और अधिकार की वस्तुओं से संतुष्ट नहीं होता, असंतोष की अग्नि सदा उसके अन्तर्हृदय में जलती रहती है, वही व्यक्ति चोरी जैसे निद्यकर्म को अपनाता है। ऐसा व्यक्ति अपने स्वोपार्जित धन में संतोष नहीं कर पाता। सर्वभक्षी हुताशन की भाँति 'और' 'और' की गूँज उसके मन में गूँजती रहती है। जिस प्रकार ईंधन डालने से अग्नि और बढ़ती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों वह अनैतिक उपायों से धन प्राप्त करता है त्यों-त्यों पाप पंक में फँसता जाता है। वह इन अनैतिक कार्यों के परिणाम का विचार किये बिना तथा अपने हिताहित को समझे बिना धन-प्राप्ति के लिए उल्टे-सीधे हाथ पैर मारता है और दूसरों के स्वामित्व के धन तथा साधनों का विविध प्रकार के उपायों से अपहरण करता है।

चोरी के बाह्य कारण

चोरी के बाह्य कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, वे कारण हैं जो मनुष्य को चोरी जैसे निंद्य कर्म को अपनाने के लिए विवश कर देते हैं। इन्हें विवशता के कारण कहा जा सकता है; और दूसरे वे कारण हैं जिन्हें मनुष्य विवशता के कारण नहीं अपितु मौज-शौक, यश-कामना, ऋद्धि-समृद्धि आदि की प्राप्ति के लिए अपनाता है।

चोरी के लिए मनुष्य को विवश करने वाले कुछ प्रमुख कारण हैं—

बेकारी—आधुनिक युग का यह सबसे बड़ा अभिशाप है। यों तो बेकारी या बेरोजगारी सदा से रही है, किन्तु आधुनिक युग में बेकारों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई है। आप सरकारी रोजगार दफ्तरों के आँकड़े उठाकर देख लीजिए—करोड़ों की संख्या में बेकारों के नाम मिलेंगे। इनके अतिरिक्त लाखों लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने नाम रोजगार दफ्तरों में नहीं लिखाये हैं। इन बेकारों में शिक्षित, अर्द्धशिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के लोग हैं।

बेकारों की संख्या तब और बढ़ जाती है, जब कोई प्राकृतिक विपत्ति जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओला-पाला-सूखा आदि का प्रकोप हो जाता है। तब तो गाँव के गाँव बेकार हो जाते हैं। ऐसी विपत्ति के समय यद्यपि सरकार सहायता करती है, मानव-सेवी तथा परोपकारिणी संस्थाएँ भी सहयोग देती हैं, उदार-हृदय व्यक्ति भी मदद देते हैं, किन्तु फिर भी कुछ लोग ऐसे रह ही जाते हैं जिन्हें सहायता प्राप्त नहीं हो पाती, वे विवश होकर चोरी करने लगते हैं।

सामान्य स्थिति में बेकारी का एक बड़ा कारण देश की बदलती हुई परिस्थितियाँ हैं। औद्योगीकरण के कारण जातिगत पेशे नष्ट हो रहे हैं। शिक्षा प्रसार के कारण आज का शिक्षित युवक अपने पूर्वजों के श्रमसाध्य धन्धे को नहीं करना चाहता, इसकी इच्छा कुर्सी पर बैठकर कलम घिसने यानी सरकारी नौकरी पाने की होती है, जब नौकरी नहीं मिलती तो वह चोरी की राह पर चल पड़ता है।

दरिद्रता—यह मानव-जीवन का दूसरा बड़ा अभिशाप है। दरिद्रता के कारण जब व्यक्ति को अपने और अपने परिवार के पेट भरने की समस्या सताने लगती है और उसे कोई नैतिक धन्धा नहीं मिलता जिससे वह उदरपूर्ति की समस्या का उचित समाधान नहीं कर पाता तो क्षुधा की तीव्र वेदना से पीड़ित होकर चोरी पर उतारू हो जाता है। विश्वामित्र ने एक स्थान पर कहा है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं

अर्थात्—भूखा व्यक्ति क्या पाप नहीं करता? यानी सभी प्रकार के पाप करता है।

आइये, अब चोरी के इन कारणों पर विचार करें जो मनुष्य में [illegible] नहीं है, वरन् [illegible] चोरी करने के लिए [illegible] है।

फिजूलखर्ची—[illegible] ऐसा गया है जो मनुष्य को [illegible] है। जो लोग अपनी आय देखकर व्यय नहीं करते, आय की सीमा से अधिक व्यय करते हैं, वे अपना सम्पूर्ण [illegible] कर देते हैं और [illegible] बन जाते हैं। [illegible] के तकाजों से परेशान होकर वे चोरी, [illegible] जैसा अनैतिक मार्ग अपना लेते हैं।

फिजूलखर्ची का एक अन्य कारण रूढ़ियाँ हैं। विवाह, मृत्युभोज आदि के समय की जाने वाली रूढ़ियों का पालन करने में मनुष्य अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यय कर देता है। परिणामस्वरूप उसे अनैतिक [illegible] को अपनाना पड़ता है।

इससे भी बड़ा कारण है फैशन। फैशनेबल वस्तुओं से आकर्षित होकर मनुष्य उन पर व्यय करने लगता है। स्त्रियों के साज-शृंगार, क्रीम, लिपस्टिक आदि न तो आवश्यक हैं और न लाभप्रद; इसी प्रकार के नये-नये डिजायन के कीमती वस्त्रों की भी आवश्यकता नहीं होती फिर भी मनुष्य इन साधनों पर व्यय करने लगता है और इन्हें जरूरी समझता है। इस कारण भी उसे अधिक व्यय करना पड़ता है और फिर उस व्यय की पूर्ति के लिए धन-प्राप्ति हेतु उल्टे-सीधे साधन अपनाने पड़ते हैं।

यश-कीर्ति की लालसा—संसार में यश-कीर्ति का साधन धन बन गया है। इसीलिए मनुष्य धन के पीछे दौड़ता है और किसी भी साधन से— चाहे वह कितना भी निंद्य क्यों न हो—धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

व्यसन—कुछ लोगों को जूआ, सिगरेट, शराब आदि की आदत पड़ जाती है। इन कुव्यसनों के लिए उन्हें धन की आवश्यकता होती है। इन कुव्यसनों का स्वभाव यह है कि ये छोटे रूप में सिर्फ शौक के लिए शुरू होते हैं और बाद में धीरे-अनिवार्यता बन जाते हैं, मनुष्य को अपने शिकंजे में ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह चाहकर भी नहीं छोड़ पाता। विवश होकर उसे इन व्यसनों की पूर्ति करनी ही पड़ती है और उसके लिए धन-प्राप्ति हेतु अनैतिक उपायों को अपनाना ही पड़ता है।

चोरी के बाह्य प्रेरक कारण

आधुनिक युग में चोरी के बाह्य प्रेरक कारणों की कमी नहीं है।

फैशन और दिखावा तो है ही; किन्तु जासूसी तथा सस्ता साहित्य और सिनेमा इसका सबसे बड़ा कारण है।

सिनेमा आधुनिक युग में मनोरंजन का एक अनिवार्य अंग ही बन गया है। किन्तु अब यह मनोरंजन तक ही सीमित न रहकर दर्शकों के जीवन और व्यवहार को भी प्रभावित करने लगा है। सिनेमा मनोरंजन की दृश्य-श्रव्य विधा है। इसमें तस्करी, चोरी, लूटमार आदि के दृश्य दिखाये जाते हैं। साथ ही तस्करों के वैभवपूर्ण जीवन का चित्रण-प्रदर्शन भी होता है। बैंक डकैती तथा अन्य प्रकार की चोरियों के नये-नये तरीकों का भी प्रभावशाली प्रदर्शन होता है। इससे प्रभावित होकर बहुत-से नवयुवक चोरी की राह पर चल पड़ते हैं।

सिनेमा से कम, फिर भी पर्याप्त मात्रा में जासूसी और गन्दे किस्म का साहित्य आज के नवयुवकों को प्रभावित करता है। रहस्य-रोमांच से भरपूर इन उपन्यासों से उत्तेजना पाकर तरुणों का मस्तिष्क चोरी करके भी ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की कल्पना करने लगता है और कुछ साहसी युवक तो इस राह पर चल भी पड़ते हैं।

एक बार एक युवक ने जेब काटने का प्रयास किया; किन्तु नौसिखिया होने के कारण पकड़ा गया। जब उससे पूछा गया कि "तुम तो संभ्रान्त घर के प्रतीत होते हो, तुमने ऐसा निंद्य कर्म क्यों किया ?" तो उसका उत्तर था—"मैंने जेब काटने के समय होने वाली अनुभूति का बड़ा ही सरस वर्णन अमुक जासूसी उपन्यास में पढ़ा था। मैं उस स्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता था।"

यह है जासूसी उपन्यासों का प्रभाव !

इसी प्रकार तीन नवयुवक रात के तीन बजे कलकत्ता नगर में एक दूकान के शटर को खोलने के लिए ताला तोड़ने लगे। रात के सन्नाटे में हथौड़े की चोटों की आवाज से पड़ोसियों की नींद टूट गई और उन्होंने उन तीनों युवकों को पकड़ लिया। आश्चर्य से उन लोगों को देखते हुए वे तीनों युवक बोले—"अमुक फिल्म में तो अमुक अभिनेता ने इसी प्रकार ताला तोड़ कर चोरी की थी, वहाँ तो कोई भी नहीं जागा, किसी ने उसे नहीं पकड़ा। आप लोग कैसे जाग गये ?"

तीनों युवकों की मूर्खता पर लोग हँसने लगे।

यह है सिनेमा और सस्ते किस्म के साहित्य का प्रभाव !

हाँ, तो मैं कह रही थी कि आधुनिक युग में सिनेमा और जासूसी,

रहस्य-रोमांच से भरपूर उपन्यास चोरी के प्रमुख बाह्य उत्तेजक कारण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं, जैसे—द्वेष, प्रतिशोध आदि। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य द्वेषवश किसी को हानि पहुँचाना चाहता है तो उसके यहाँ स्वयं चोरी करता है अथवा किसी दूसरे को उकसाकर चोरी करवा देता है। ऐसा कार्य कभी-कभी ईर्ष्यावश भी किया जाता है। कुछ दुष्ट प्रकृति के लोग अपने पड़ोसी अथवा अन्य सज्जनों की समृद्धि से जल उठते हैं तो वे चोरी करा देते हैं। इसी प्रकार यदि किसी से शत्रुता की गांठ बँध जाय, कलह अथवा विवाद हो जाय तो प्रतिशोध की आग ठंडी करने के लिए वे उसके धन का अपहरण करा देते हैं। कुछ तो इतने दुष्ट होते हैं कि गुण्डे-बदमाशों से मिलकर अथवा स्वयं ही उसके बच्चों का अपहरण करा देते हैं। कुछ घरेलू नौकर भी ऐसे होते हैं जो मालिक से प्रतिशोध लेने के लिए उसके घर में चोरी करते हैं। छोटी-मोटी चोरियाँ तो करते ही रहते हैं।

इस प्रकार चोरी के बाह्य कारण अनेक हैं किन्तु उन सबके मूल में लोभ, प्रतिशोध, द्वेष आदि की भावनाएँ अवश्य रहती हैं।

चोरी के प्रभाव

चोरी के प्रभाव बहुत ही व्यापक और गंभीर होते हैं। इसका प्रभाव स्वयं अपने पर भी पड़ता है और दूसरों पर भी पड़ता है। अन्य कुछ पाप तो ऐसे होते हैं जो मुख्यतया करने वाले को ही प्रभावित करते हैं किन्तु चोरी ऐसा पाप है जो देश, जाति, समाज और यहाँ तक कि विश्व शांति को भी खतरे में डाल देता है। विदेशों में कुछ ऐसे तस्कर व्यापारी हैं जो अन्य देशों को चोरी-छिपे युद्ध सामग्री सप्लाई करते हैं। ऐसे व्यापारियों को Fire Merchants कहा जाता है, इन लोगों का स्वार्थ ही इसमें है कि संसार में सर्वत्र युद्ध की आग ही भड़कती रहे। ऐसे लोग राष्ट्रद्रोही ही नहीं, विश्व-द्रोही भी होते हैं।

इसी प्रकार जो लोग तस्कर व्यापार में संलग्न रहते हैं वे अपने देश के प्रति गद्दारी करते हैं, अपने देश की समृद्धि में बाधक बनते हैं, इस प्रकार वे देशद्रोही होते हैं। चीन-युद्ध की घटना है। दिल्ली मिलटरी हेडक्वार्टर से नेफा भेजी जाने वाली बन्दूकों की गोलियाँ कलकत्ता में बिक गईं। यह तस्कर व्यापारियों की मेहरबानी थी जिससे उनकी इस चालाकी करतूत के कारण देश को पराजय का अपमान सहना पड़ा।

इंग्लैंड की एक घटना है। एक भारतीय किसी जनरल स्टोर में

घुसा। उसने एक क्रीम की शीशी सेल्समेन की नजर बचाकर जेब में रख ली। किन्तु दूकान मालिक ने इसे देख लिया। उसकी इस छोटी-सी चोरी के कारण सारा देश ही बदनाम हो गया। "सभी भारतीय चोर होते हैं", उस दूकान मालिक की धारणा बन गयी।

इस प्रकार चोर स्वयं तो अपयश, धिक्कार और दण्ड का भागी बनता ही है, साथ ही अपने परिवार को भी कष्ट और मुसीबत में डालता है। उसके कारण देश और जाति भी बदनाम होती है। सभ्य समाज में उनका मस्तक नीचा हो जाता है।

चोरी की आदत कैसे पड़ती है ?

सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि चोरी की हानियां और उसके दुष्परिणामों को जानते हुए, प्रत्यक्ष देखते हुए भी मनुष्य चोरी जैसे पाप में लगा रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि चोरी की आदत एक बार पड़ जाने पर सरलता से छूटती नहीं।

साधारणतया चोरी की आदत बचपन में पड़ती है। बालक भोली प्रकृति होता है। न वह अपना हिताहित जान पाता है और न उसकी बुद्धि ही इतनी विकसित होती है कि वह अपने कार्य का परिणाम जान सके। वह हृदय की भावना से आकर्षित होकर किसी भी सुन्दर लगने वाली वस्तु को उठाकर अपने पास छिपाकर रख लेता है, उसे अपनी मानने लगता है। उस समय माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चे पर कड़ी नजर रखें और उसकी पहली भूल को ही प्यार से समझा-बुझाकर अथवा ताड़ना-तर्जना देकर या दण्ड का भय दिखाकर सुधार दें।

क्या आपने वह कहानी नहीं सुनी कि एक चोर ने अपनी माँ का ही कान कतर लिया। मैं सुनाती हूँ।

एक बच्चा बचपन में स्कूल से अपने किसी सहपाठी की एक पेंसिल चुरा लाया। माँ ने वह पेंसिल देखी लेकिन उसने न बच्चे को समझाया-बुझाया और न ताड़ना ही दी। बच्चे का हौंसला बढ़ा, वह छोटी-मोटी चोरियाँ करने लगा। माँ ने फिर भी कुछ न कहा। चोरियाँ करते-करते बच्चा युवक बन गया। उसका साहस और भी बढ़ गया, अब वह बड़ी चोरियाँ करने लगा। आखिर वह कब तक बचता ? एक दिन पकड़ा गया तो जज ने उसे फाँसी की सजा सुना दी। फाँसी पर चढ़ते समय उसने माँ से मिलने की इच्छा प्रकट की। माँ मिलने आई तो वह बोला—माँ! पास आओ मुझे तुम्हारे कान में कुछ कहना है। माँ ने उसके मुँह के पास कान किया तो उसने कान दाँतों से कतर लिया। पीड़ा से माँ चीख उठी। पास

बड़े लोगों ने उस चोर को धिक्कारा तो उसने कहा—"भाइयो! जिस पहले दिन मैं स्कूल से एक पेंसिल चुराकर लाया था, यदि यह उसी दिन मुझे डाँट देती तो मैं न पक्का चोर बनता और न फाँसी पर चढ़ता।"

कभी-कभी माता-पिता ही स्वयं बालक के शत्रु बन जाते हैं। उनका व्यवहार ऐसा होता है कि बालक में चोरी के संस्कार पड़ जाते हैं। कुछ स्त्रियाँ अपने पति से छिपाकर अपने पास रुपये रखती हैं। बच्चा जब माँ की यह प्रवृत्ति देखता है तो वह भी अपने पास छिपाकर पैसे रखने लगता है और उसमें चोरी के संस्कार पड़ जाते हैं। कुछ स्त्रियाँ देवरानी, जेठानी से छिपाकर अपने बच्चों को मिठाई खिलाती हैं, कुछ पैसे भी दे देती हैं। यह चोरी-छिपे का व्यवहार बच्चे को चोर बनने में सहायक बनता है।

पिता की कर-चोरी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार आदि का प्रभाव भी बच्चों पर पड़ता है। वे देखते हैं कि पिता इन तिकड़मों से धन का उपार्जन करते हैं और हम लोगों की सभी इच्छाएँ पूरी करते हैं, इसके विपरीत ईमानदारी से जीवन-यापन करने वाला परिवार अभावों से ग्रस्त रहता है तो उनके कोमल मन-मस्तिष्क में चोरी एक अच्छाई के रूप में जम जाती है; वे उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं और चोर बन जाते हैं। यह बात दूसरी है कि धनवान के पुत्र होने के नाते सभ्य चोर बनें, ऊँचे स्तर की चोरी करें।

चोरी के अतिचार

अब आप चोरी के अतिचार भी समझ लें, जिससे चोरी का पूर्णांश से त्याग कर सकें, आपके अचौर्यव्रत में किसी प्रकार का दूषण न लग सके। आचार्यों ने अचौर्यव्रत के पाँच अतिचार बताये हैं—

(१) स्तेनाहृत—आप यह न समझें कि सिर्फ चोरी करना, कराना अथवा किसी को चोरी करने की प्रेरणा देना ही चोरी है; अपितु चोरी का माल खरीदना भी चोरी है, पाप है। साधारणतया मनुष्य यह समझ लेता है कि मैंने तो मूल्य देकर वस्तु खरीदी है, इसमें कोई पाप नहीं है। किन्तु चोरी की वस्तु खरीदना चोरी को प्रोत्साहन देना है। यह भी तथ्य है कि चोरी की वस्तु को खरीदने वाले न मिलें तो चोरियाँ अपने आप ही बन्द हो जाएँ। चोर उन वस्तुओं का करेगा क्या? चोरी का माल खरीदना अथवा अपने पास रखना राजकीय अपराध भी है।

(२) तस्कर प्रयोग—अपने नौकरों अथवा अधीनस्थों से चोरी करवाना। जैसे डिकेन्स का मास्टर छोटे-छोटे १२-१४ वर्ष के लड़कों को रखकर

उनसे पॉकेटमारी कराता है; अथवा सेठजी अपने मुनीम से जाली बहीखाते बनवाते हैं, टैक्स चोरी कराते हैं।

(३) विरुद्ध राज्यातिक्रम—राज्य के कानून के विरुद्ध विदेशों से माल मँगवाना या भेजना। इसका प्रमुख उदाहरण आज का तस्कर व्यापार है।

(४) कूटतुला-कूटमान—नाप-तौल तथा लेन-देन में बेईमानी करना—कम देना और अधिक लेना। इस प्रवृत्ति ने वणिक् समाज को जनता की निगाहों में अविश्वसनीय बना दिया है।

(५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिला देना, मिलावट करना।

सुख-शांति से जीवन बिताने के लिए अतिचार सहित सभी प्रकार की चोरी का त्याग कर देना आवश्यक है।

चोरी सर्वथा त्याज्य

सुख-शांति से जीवन व्यतीत करने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य को होती है और उसकी यह इच्छा स्वाभाविक भी है। किन्तु चोरी सामाजिक जीवन की सुख-शांति को समाप्त कर देती है। इसीलिए चोरी जैसा पाप-कर्म सर्वथा त्याज्य है।

सामाजिक सुख-शांति के लिए आवश्यक है कि उस समाज का प्रत्येक सदस्य नैतिक एवं धार्मिक जीवन बिताए। किसी अन्य व्यक्ति की किसी भी वस्तु का हरण न करे। जब समाज के सदस्य अन्य व्यक्तियों के अथवा एक-दूसरे के साथ छल-कपट का व्यवहार करते हैं, एक-दूसरे को ठगते हैं, धन हरण के लिए हत्या तक कर देते हैं तो सुख-शांति कैसे रह सकती है? वह तो भंग हो ही जायगी।

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि स्वार्थ में अन्धा होकर मनुष्य अपनी ही सुख-शांति की इच्छा करता है तथा उसने अपना सुख धन में मान रखा है। उसका मूलमंत्र बन गया है—सर्वे: सुखा: कांचनमाश्रयन्ति और इस कंचन अथवा धन को प्राप्त करने के लिए ही वह ठगी, चोरी, लूटमार जैसे अनैतिक तथा पापकर्मों की राह पर चल पड़ता है।

किन्तु नैतिक जीवन की आधार-भूमि अचौर्यव्रत है। इस व्रत को धारण करने से ही मनुष्य का जीवन सुख-शांति से सराबोर हो सकता है। इसलिए आप सबको अचौर्यव्रत ग्रहण करके स्वयं अपने जीवन का ऐसा निर्माण करना चाहिए जिससे संपूर्ण समाज, जाति, देश, राष्ट्र और विश्व में सर्वत्र नैतिकता का प्रसार हो तथा सभी सुखी रहें।

आप भी इस व्रत को ग्रहण करके अपने [illegible] शांति से परिपूर्ण करें और जाति, देश, [illegible] साथ ही अपनी आत्मा की भी उन्नति करें।

10

ब्रह्मचर्य का विराट् स्वरूप

भारतीय धर्म और संस्कृति में साधना के अनेक प्रकारों का विधान किया गया है, परन्तु सबसे श्रेष्ठ और सबसे प्रखर साधना ब्रह्मचर्य की बताई है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मचर्य की साधना बहुत ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। उसकी साधना में विश्व की सभी साधनाएँ आ जाती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ब्रह्मचर्य साधना विश्व की समस्त साधनाओं को साध्य के रूप में अपनानी ही पड़ती है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य शब्द में जो अर्थ-गाम्भीर्य, बल, शक्ति या पराक्रम निहित है, वह संस्कृत भाषा शास्त्र के किसी अन्य शब्द में नही है। इसलिए सर्वप्रथम मैं आपको ब्रह्मचर्य की परिभाषा बताने का प्रयास करूँगी।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा

विश्व की सभी भाषाओं के समान संस्कृत भाषा में भी एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। किसी शब्द के अनेक अर्थ हों तो प्रसंगानुकूल ही उसका अर्थ लगाना उचित है। ब्रह्मचर्य शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं। आप लोग जरा मेरी बात को ध्यान से सुनेंगे तो आपकी समझ में इसके सभी अर्थ आ जाएँगे।

हाँ तो, ब्रह्मचर्य में दो शब्द हैं—ब्रह्म और चर्य। पहले हम ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थों को समझ लें। ब्रह्म का अर्थ आत्मा और परमात्मा दोनों होते हैं। ब्रह्म का अर्थ बृहद् या महान् भी होता है। ब्रह्म का एक अर्थ विद्याध्ययन भी होता है।

चर्य का अर्थ होता है—विचरण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ—आत्मा में रमण करना, आत्मा की सेवा में विचरण करना अथवा परमात्मभाव में रमण करना, परमात्मा की सेवा में विचरण करना। तीसरा अर्थ होता है—महान् या बृहत् में विचरण या रमण करना।

जब साधक जीवन के क्षुद्र क्षेत्र में विचरण करता है, तब प्रत्येक स्थिति में अपने आपको क्षुद्र एवं दीन-हीन मानने लगता है। ऐसे

स्थिति में उसका गमन या उसका विचरण विराट् (परमात्मा या बृहत् ध्येय) की ओर कैसे हो सकता है ? किन्तु जब साधक किसी न किसी विराट् ध्येय में या परमात्मा में विचरण करने लगेगा तब स्वतः ही उसके मन, वचन, तन, इन्द्रिय आदि में क्षुद्र विचार, वासना के विचार या विकार नहीं आएँगे। क्योंकि इन्द्रियविषयों की लालसा के विचार ही उसे क्षुद्रता की ओर ले जाते हैं; मन के काम, क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार ही उसे हीनता की ओर खींच ले जाते हैं। जब वह इनकी ओर ध्यान न देकर अपने व्यापक विशाल ध्येय या परमात्मा, आत्मा आदि की ओर ही ध्यान देगा तब स्वतः ही वे विकार या दुर्विचार शान्त हो जाएँगे। अतः क्षुद्र एवं हीन सीमा को लांघकर पवित्र एवं महान् जीवन की विराटता की ओर बढ़ना, उसमें रमण करना ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है।

इसी प्रकार जहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ—परमात्मभाव या शुद्ध आत्मभाव की ओर चर्या करना, गति करना या चलना होता है, वहाँ भी साधक जब परमात्मभाव या शुद्धात्मभाव की ओर अग्रसर होता है या उसके लिए साधना करता है, वहाँ उसकी साधना करते समय क्षुद्र विकारों या विषय वासनाओं को दमन करना आवश्यक हो जाता है। तभी ब्रह्मचर्य साधक के जीवन में परमात्मभाव की ज्योति प्रदीप्त कर देता है।

ब्रह्मचर्य : सर्वेन्द्रिय संयम

यह देखा गया है कि जब तक मनुष्य के सामने कोई महान् या बृहत् ध्येय नहीं होता—फिर वह चाहे मोक्ष प्राप्ति हो, परमात्म-मिलन हो या आत्मभावरमण हो—तब तक वह काम-क्रोधादि क्षुद्र विकारों या इन्द्रियों के विषयों में भटकता रहता है। बाहर से तो साधक का वेप बना लेता है, बाह्य धर्मक्रियाएँ भी बड़ी आसानी से कर लेता है, तिलक-छापे लगाकर भक्त बन जाता है, जटाएँ बढ़ाकर या मस्तक मुड़ाकर पूरा धार्मिक बन जाता है, मगर उसके अन्तर्मन में वासनाओं-कामनाओं का नाग सुषुप्त दशा में पड़ा रहता है; जब कभी वे दबी हुई या सोई हुई वासनाएँ निमित्त पाकर उभर आती हैं।

जिस समय मन में कामादि विकारों के तूफान उठते हैं, उस समय उस साधक या भक्त को परमात्मभाव की प्राप्ति या विशाल ध्येय में टिके रहना बड़ा कठिन होता है। उसके अन्दर् में उस समय महान् संघर्ष होता है। विकारों के भूत जब मन पर सवार होते हैं तब मन बराबर साधक से कहता है—पीछे लौट ! क्या रखा है अपनी इच्छाओं को दमन करने और ऐसी

और इस तरह से वे प्रभु-दर्शन और वैकुण्ठवास मिलने की मन में बड़ी
रखते हैं।

बहुत से साधक या संन्यासी भूखे प्यासे रहते हैं, कई सप्ताह या एक
मास तक निराहार रहते हैं, कोई लाये हुए भोजन को इक्कीस बार पानी में
धोकर फिर सेवन करते हैं।

ये सब साधनाएँ कठोर अवश्य हैं, लेकिन निरोद्देश्य होने से लाभदायक नहीं हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से मानो कर्मक्षय की दृष्टि से उनका
कोई मूल्य नहीं। ऐसी साधनाओं से अकाम निर्जरा भले ही हो जाती है,
परन्तु परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो पाती।

ऐसी कठोर साधनाओं की पराकाष्ठा यहीं तक ही नहीं थी, इनसे
भी भयानक तथा रोमहर्षक साधनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। रास्ते में
गिरी हुई या पड़ी हुई कोई चीज मिल गई। उसे उठा ली। लेकिन
जब यह विचार आया कि अरे! मेरे हाथों ने बहुत बड़ा अनर्थ किया!
अगर ये हाथ न होते तो इस चीज को उठाता ही कैसे? पैर न होते तो
इस चीज तक उठाने कैसे जाता? अतः हाथों और पैरों के कारण ही इस
पाप में पड़ गया। अब इनकी यही सजा है कि इन्हें काट डाला जाए, ताकि
भविष्य में पाप न हो और अपने हाथ-पैर ही काट दिये, ठूँठ बन गए।

आँखों से किसी सुन्दरी पर विकारी दृष्टि पड़ गयी। बस, फौरन
आँखें फोड़ ली, सूरदास बन गए। यदि आँखें नहीं होतीं तो मैं विकारजनक
वस्तु को देखता ही नहीं, और न विकार जागता।

मुख खुला रहेगा, तो जीभ से कुछ बोला जाएगा या किसी चीज
का स्वाद लिया जाएगा। अतः कुछ साधकों ने जीभ लोहे के तार से सी
ली।

गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—

"बंचक भक्त कहाय राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥"

वे इस प्रकार अविवेकवश इन्द्रियसंयम के बदले इन्द्रियों का ही
सफाया कर डालते थे। पर मन की दुर्वृत्ति मरी नहीं, मन में काम के तूफान
उठते रहते थे। शरीर को छोड़ देने या अंग-भंग कर डालने से इन्द्रियसंयम
हो जाता और आत्मभाव में रमण हो जाता तब तो बहुत से प्राणी अपना
कल्याण कर लेते। पर ऐसा होता नहीं। आत्मकल्याण इतना सस्ता
नहीं है।

इसलिए भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य—आत्मभावरमण के लिए इन्द्रियसंयम रखने का विधान किया, परन्तु इन्द्रियसंयम भी मन पर नियंत्रण करने से होता है। अतः मनोविजय या मनःसंयम की प्रेरणा दी।

ब्रह्मचर्य का एक और अर्थ

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ और है—विद्याध्ययन या वेदाध्ययन में विचरण करना या गति करना। यद्यपि यह अर्थ वैदिक धर्म में ही प्रसिद्ध है, किन्तु वहाँ विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य बताया है। ब्रह्मचर्य-पालन वीर्यरक्षा के बिना हो नहीं सकता, इसलिए उपचार से प्राचीन आचार्यों ने वीर्यरक्षा को ही ब्रह्मचर्य कह दिया। स्त्री जाति के पक्ष में वीर्यरक्षा का कोई प्रश्न नहीं उठता, अतः स्त्री-पुरुष दोनों के लिए ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ जननेन्द्रियसंयम।

ब्रह्मचर्य का वीर्यरक्षा अर्थ बहुत ही संकुचित है। बहुत से लोग अपनी इन्द्रियों और मन को खुली छूट देकर भी वीर्यरक्षा कर लेते हैं अथवा वीर्यपात नहीं होने देते। इसी तरह जननेन्द्रिय-संयम भी ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ है। इस अर्थ का स्वीकार करके कई व्यक्ति शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की छूट ले लेते हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य का बहुत व्यापक अर्थ किया गया है। हाँ, यह ठीक है कि प्राथमिक रूप में वीर्यरक्षा या जननेन्द्रिय-संयम करके जो साधक अपने को वीर्यसम्पन्न बनाता है, उसी के पवित्र मानस में ब्रह्मभाव का उदय होता है। परन्तु इस लोक-प्रचलित शरीर से सम्बन्धित संकुचित अर्थ को पकड़कर ब्रह्मचर्य शब्द के व्यापक विराट् स्वरूप को भूल नहीं जाना चाहिए।

अतः समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना और उन्हें विषयों में राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्त न होने देना तथा मन को काम-वासना, मोह आदि विकारों से मुक्त रखना पूर्ण ब्रह्मचर्य है, इसी के द्वारा साधक आत्मभाव में रमण या विचरण कर सकता है, आत्मचिन्तन कर सकता है, परमात्मभाव में भी विचरण कर सकता है।

ब्रह्मचर्य का साधना क्रम

वस्तुतः इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि आत्मा के अधीन और आत्मा की सहायिका होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही आत्मा अपने आपको जान सकता है, आत्मभाव या परमात्मभाव में विचरण कर सकता है इसलिए इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का कर्तव्य आत्मा को शक्तिशाली बनाना है। बलवान आत्मा ही अपने तथा परमात्मा के स्वरूप को जान

है, जब अपने पथ से भ्रष्ट होकर इन्द्रियों का अनुचर या अनुगामी न बने, न ही इन्द्रियों को दुर्विषयों की ओर भटकने दे। मन का काम इन्द्रियों की सेवा करना नहीं, आत्मा की सेवा करना है; और इन्द्रियों को भी आत्मा की सेवा में लगाना है। इन्द्रिय और मन का इस प्रकार संयम में रहकर आत्मसेवा के कर्त्तव्य में स्थिर रहना ही ब्रह्मचर्य है।

जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्त होती रहती हैं, तब तक उन पर नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। इन्हें नियंत्रण में रखने के लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाया जाए, उन्हें अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी बनाने का प्रयास किया जाए। तभी ब्रह्मचर्य की साधना में सफलता मिल सकती है।

पाँचों इन्द्रियाँ जब अधोवाहिनी होती हैं, तब वे मन को भी दुर्विषयों के जंगल में भटकाकर वासना और विकारों को अधिकाधिक भड़का देती हैं और क्रमशः आत्मा को पतन के गड्ढे में गिरा देती है। इसलिए ब्रह्मचर्य को सिद्ध करने के लिए इन पाँचों इन्द्रियों पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

नेत्र-ब्रह्मचर्य : चक्षुरिन्द्रियसंयम

प्राणियों के मन में सोई हुई वासना तथा कामविकार को उद्दीप्त करने वाली प्रमुख इन्द्रिय आँख है। इसका मुख्य कार्य रूप या दृश्य को देखना है। रूप अच्छा हो या बुरा, देखने की लिप्सा प्रायः हर एक मनुष्य में होती है। रूप देखने की लालसा तथा किसी भी रूपवान वस्तु को देखकर होने वाली आसक्ति को जीतना ही नेत्र का ब्रह्मचर्य है—नेत्र-संयम है। साधक के सामने नवयौवना सुन्दरी आ जाए, उस समय अनायास ही कदाचित् दृष्टि उस ओर चली जाए, परन्तु मन में उसे काष्ठ की पुतली-सम समझे, वही साधक पक्का ब्रह्मचारी है। प्रसिद्ध अध्यात्मयोगी श्रीमद्राजचन्द्र ने इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर सुझाव दिया है—

> निरखो ने नवयौवना, लेश न विषयनिदान।
> गणे काष्ठनी पुतली, ते भगवन्त-समान॥

यह है आँख का संयम। ब्रह्मचर्य साधक को सर्वप्रथम नेत्र पर संयम रखने की बहुत आवश्यकता है।

एक बौद्ध भिक्षु था। उसके अंग-अंग में तरुणाई थी। ब्रह्मचर्य के तेज से उसका चेहरा दमक रहा था। एक दिन वह कहीं जा रहा था, रास्ते में एक नवयुवती अपने पति से रुष्ट होकर भागी जा रही थी। उस भिक्षु के पास से निकली, परन्तु भिक्षु ने उसकी ओर नजर भरकर भी नहीं देखा।

छ ही देर बाद उसका पति भिक्षु के निकट आ पहुँचा। उसने भिक्षु से छा—"महात्मन्! इधर से कोई स्त्री जाती हुई देखी आपने?" भिक्षु ने त्तर दिया—"हाँ, एक चलती-फिरती छाया-सी मैंने देखी थी, वह स्त्री थी ा और कोई थी, यह मैंने नहीं देखा।"

इसी प्रकार ब्रह्मचारी साधक को अपने नेत्रों पर नियंत्रण रखना ाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई स्त्री या कोई दृश्य वस्तु सामने आ ही है तो वह उसे देखे ही नहीं। शास्त्र में आँखों का उपयोग संयम-पालन ा जीवदया के लिए करने का निषेध नहीं किया है, किन्तु आसक्ति या घृणा, ोह या नफरत के साथ किसी चीज को देखना असंयम है। उसका निषेध वश्य किया है।

कई साधक किसी भी महिला को देखते ही नहीं, वे तुरन्त आँखों पर पड़ा डाल लेते हैं। परन्तु इससे क्या यह दावे के साथ कहा जा सकता है के उक्त साधक के मन में स्त्री मात्र के प्रति कभी विकार-भावना आती ही हीं। खास तो मन की आँखों पर पर्दा डालना चाहिए; ताकि मन के नेत्रों े किसी भी स्त्री को विकारी भाव से न देखें। स्त्री साधिका भी किसी पुरुष को विकारी भाव से मन से भी न देखे। आँखों पर पर्दा डालकर भी मन से उस स्त्री का चिन्तन करता रहे तो नेत्रसंयम या चक्षुरिन्द्रिय ब्रह्मचर्य नहीं सधता।

जैन साधुओं के लिए भिक्षाचरी करने, सभा में प्रवचन देने, साध्वी को शास्त्र वाचना देने, किसी दुःखी या रुग्ण महिला को मंगल पाठ सुनाने आदि का विधान है। ऐसे प्रसंगों में कई जगह माताएँ-बहनें दृष्टिगोचर होती हैं। उन्हें ताककर विकारी भावना से देखने से तो नेत्र ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है; किन्तु सहसा दृष्टि पड़ भी जाय तो वहाँ से तुरन्त दृष्टि को हटा लेना चाहिए, इसमें ब्रह्मचर्य में कोई बाधा नहीं आती। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है—

> चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारीं वा सु अलंकियं।
> भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह दीवार पर नारी का चित्र खींचा हुआ हो, या चित्र टँगा हुआ हो या वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नारी हो, उसकी ओर ताक कर न देखे। अगर कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो वहाँ से शीघ्र ही दृष्टि को उसी तरह हटा ले, जैसे सूर्य पर दृष्टि पड़ते ही हटा ली जाती है।

यह है नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में स्पष्ट मार्गदर्शन! जिस प्रकार राग भाव से पुरुष के लिए नारी-दर्शन वर्ज्य है, उसी प्रकार नारी के लिए पुरुष-दर्शन भी वर्ज्य है।

ब्रह्मचारी के लिए सिनेमा आदि वर्जित

आज तो सिनेमा, नाटक या तमाशों में या विवाहों के अवसर पर धड़ल्ले के साथ नेत्र ब्रह्मचर्य का ह्रास हो रहा है और तो और आम रास्तों पर अर्धनंगी स्त्रियों के चित्रों के बड़े-बड़े पोस्टर लगे रहते हैं, वे आँखों पर सीधा प्रभाव डालते हैं, नाटकों में कैबरे (अर्धनग्न) नृत्य होता है। कहीं कहीं तो नग्न नृत्य (Nude Dance) भी होता है। इस प्रकार जान-बूझकर ब्रह्मचर्य और संयम में आग लगाई जाती है।

सिनेमा हॉल में माता-पिता के साथ-साथ अल्पवयस्क लड़के-लड़कियाँ भी बैठे रहते हैं। उन अधखिले कोमल हृदय बालकों के मन में किस प्रकार के भाव उठते होंगे ? वे जिधर भी आँख उठाकर देखते हैं, उधर ही उन्हें हठात् कामोत्तेजना फैलाने वाले रंगीन दृश्य नजर आते हैं। कुछ समझदार होते ही उन सुभावने मनोमोहक दृश्यों को देखकर तथा वैसे ही कामोत्तेजक उपन्यास पढ़कर वे अपने आपको नियंत्रण में नहीं रख सकते। आँखों के द्वारा स्त्री का रूप देखते ही उनके मन पर संयम नहीं रहता, वे शरीर कामक्रिया तक पहुँच जाते हैं। वर्तमान नाटक सिनेमा चाहे धार्मिक कहलाने वाले ही क्यों न हों, उनमें अश्लीलता का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है। इसलिए उन्हें देखकर कुछ न कुछ कुसंस्कार अवश्य ही जागृत हो जाते हैं।

गांधीवाद के प्रखर भाष्यकार काका कालेलकर ने एक बार कहा था—"लोग सन्त तुकाराम की फिल्म सिनेमाघर में देखते हैं, लेकिन उसे देखकर क्या कोई तुकाराम या भक्त बना है ? सिनेमा दर्शकों में तो कई तुकाराम के भक्त होंगे, पर तुकाराम की फिल्म देखने से कोई तुकाराम या भक्त नहीं बना है। इसलिए सिनेमा-नाटकों के देखने से आज किसी को जीवन में शिक्षा मिली हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।"

एक रूसी महिला नाटक के पर्दे पर ठंड से ठिठुरते हुए मानव को देखकर नाटक गृह में बैठी आँसू बहाती रही, लेकिन नाटकशाला के बाहर उसके घोड़ा और कोचवान रूस के कंपकंपाने वाले भयंकर पाले में मरते रहे। पर उसके हृदय में उन्हें देखकर जरा भी दया नहीं आई। इसलिए ब्रह्मचर्य साधक के लिए नृत्य, नाटक, सिनेमा, अश्लील चित्र आदि वासना भड़काने वाले दृश्य वर्जित है।

ब्रह्मचर्य-साधक के लिए आवश्यक है कि वह नारी को ही नहीं, उन

सभी काम-वासनावर्द्धक दृश्यों को न देखे। कदाचित् सुन्दर मनोमोहक वस्तु दिखाई दे तो भी उस वस्तु के प्रति आसक्ति या लालसा उत्पन्न न होने दे। कम से कम कामोत्तेजक दृश्य या रूप के दर्शन से अपने नेत्रों को बचाए।

नेत्र-संयम करने वाले व्यक्ति की आँखों में तेज होता है, उससे विरोधी से विरोधी भी प्रभावित हो जाता है। कामी से कामी व्यक्ति भी ब्रह्मचारिणी महिला के नेत्रों के तेज के सामने देख नहीं सकता।

लोकमान्य तिलक के जीवन संस्मरण में लिखा है कि एक स्त्री, जो अत्यन्त सुन्दरी तथा तरुणी थी, जिसके अंग-अंग से सुन्दरता टपक रही थी, तिलक के पास किसी विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए आई। तिलक अपने अध्ययन कक्ष में बैठे किसी विषय पर गम्भीर चिन्तन-मनन कर रहे थे। उसकी ओर देखकर तुरन्त ही उन्होंने अपनी दृष्टि पुस्तक पर स्थिर कर ली। वह स्त्री तीन घंटे तक उनके सामने बैठी रही, लेकिन तिलक ने फिर एक बार भी उसकी ओर नहीं देखा।

एक बार एक बहन लोकमान्य तिलक से एक अर्जी लिखाने आई। लोकमान्य ने उसकी बात सुनी और फौरन अर्जी लिखकर उसे दे दी। परन्तु उन्होंने उसकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा कि वह महिला कौन थी?

यह है नेत्र संयम!

एक विदेशी लेखक ने लोकमान्य तिलक के सम्बन्ध में लिखा है कि "लोकमान्य तिलक की आँखों में मैंने जो तेजस्विता देखी, वैसी संसार के अन्य किसी पुरुष में मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुई।"

परन्तु उस तेज का मूल स्रोत ब्रह्मचर्य ही है।

भारतीय धर्मग्रन्थों में तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्रह्मचर्य-साधक को अपना मुँह भी दर्पण में नहीं देखना चाहिए। क्योंकि उसके देखने से भी मन में सौन्दर्यासक्ति या अपने शरीर के प्रति अहंकार या काम भाव आना सम्भव है। 'देहपलोयणाए' कह कर दशवैकालिक सूत्र में दर्पण आदि में देह का अवलोकन अनाचार बताया है। अतः नेत्र-संयम ब्रह्मचर्य सुरक्षा का प्रथम सोपान है।

श्रवणेन्द्रिय ब्रह्मचर्य : कर्णेन्द्रिय-संयम

कान संसार में होने वाली प्रत्येक अच्छी-बुरी आवाज के सुनने के लिए है। शब्द ही कान का विषय है। कई शब्द प्रिय, मनोज्ञ एवं रुचिकर होते हैं, कई शब्द कर्णकटु, अमनोज्ञ एवं अरुचिकर होते हैं। ब्रह्मचर्य-साधक के कानों में भी तरह-तरह के शब्द पड़ेंगे, निन्दा-प्रशंसा के भी, श्लील और

अश्लील भी, कामोत्तेजक भी और काम-निवारक भी। परन्तु ब्रह्मचारी न शब्दों को सुनकर न राग या मोह करे और न ही द्वेष या घृणा करे। इं प्रकार के शब्दों को सुनकर समभाव में तटस्थ होकर रहे।

कामोत्तेजक एवं अश्लील भद्दे शब्द सुनने से प्रसुप्त वासना जागृत होती है। प्रथम तो ब्रह्मचारी को चाहिए कि ऐसे कामोत्तेजक शब्दों या काम-विकारवर्द्धक गीतों का जहाँ वातावरण हो, ऐसी जगह न ही नहीं, वर्तमान-युग के दूषित वातावरण में कदाचित् कहीं वैसे शब्द में पड़ भी जायें तो तुरन्त कान और मन दोनों को वहाँ से हटा ले, उन पर कोई विचार न करे। इसीलिए धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य-साधक के लि अश्लील गायन और वादन वर्जित किये हैं।

एक मनोवैज्ञानिक का कथन है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों, यहाँ तक कि कीट-पतंगों और पक्षियों में संगीत का उद्देश्य नर और मादा को परस्पर आकर्षित करना होता है। मधुर शब्दों तथा गीतों का प्रभाव पक्षियों पर जबर्दस्त पड़ता है। नर-मादा पक्षी एक दूसरे के साथ मिलकर वासना [illegible] करते हैं। अतः जो कामोत्तेजक संगीत वासनानुकूल प्रभाव क्षुद्र जन्तुओं तथा पशु-पक्षियों पर डाल सकता है, वह मनुष्यों पर क्यों नहीं डाल सकता? इस का प्रभाव सामान्य मनुष्यों पर ही नहीं, बड़े-बड़े साधकों के मन पर अनुकूल या प्रतिकूल पड़ सकता है। अतः श्रोत्रेन्द्रियसंयम भी ब्रह्मचर्य-साधक के लिए अनिवार्य है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में ब्रह्मचारी के लिए निर्देश है—

कुइयं रुइयं गीयं हासमुत्ता सियाणि य।

अर्थात्—ब्रह्मचारी को स्त्रियों के कामविकारवर्द्धक शब्द, रुदन, मोहक गायन, उनका हास्य, पूर्वभुक्त भोगों का श्रवण आदि नहीं करना चाहिए।

घ्राणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : नासिका-संयम

नाक सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों को ग्रहण करती है। दोनों प्रकार के गन्ध के समय राग या मोह और घृणा या द्वेष से ब्रह्मचर्य-साधक को बचना चाहिए। ऐसे वातावरण में अपनी ओर से न जाना चाहिए जहाँ सुगन्धित पदार्थों के कारण मोहक वातावरण हो, न ऐसे सुगन्धित द्रव्यों का मर्दन या लेपन करना चाहिए, जिससे काम-विकार पैदा हो। जैन, वैदिक एवं बौद्ध धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए सुगन्धित तेल-इत्र आदि सुगन्धित पुष्पमाला पहनने या पुष्प सूँघने तथा चन्दन, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों के लेपन का स्पष्ट निषेध किया गया है।

वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि

घ्राणेन्द्रिय और जननेन्द्रिय दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। तरुण-तरुणियों को यौवनकाल में नकसीर फूटने (नाक से अचानक ही बिना किसी कारण के रक्त बहना) का कारण नाक और जननेन्द्रिय की उत्तेजना का परस्पर सम्बन्ध बताया गया है। नकसीर फूटने की हालत में शरीर-वैज्ञानिकों ने उनके जनन-प्रदेश पर बर्फ रखा, जिससे नकसीर बंद हो गई। इसलिए यह माना गया कि अतिशय कामोत्तेजना भी नकसीर फूटने का कारण है। मनमोहक भीनी-भीनी सुगन्ध का प्रभाव मनुष्य के नाक से मन पर गहराई के साथ पड़ता है, इसलिए भारतीय धर्मशास्त्रों में शब्द और रूप के समान गन्ध की आसक्ति भी ब्रह्मचर्य-विघातक मानी गई है।

जिह्वेन्द्रिय ब्रह्मचर्य : जीभ पर संयम

जिह्वा भी असंयम का बहुत बड़ा कारण है। जीभ का कार्य स्वाद चखना है। किसी मनोज्ञ, चटपटी, मसालेदार, स्वादिष्ट वस्तु को देखकर जीभ तुरन्त लुभा जाती है और अविवेकपूर्वक बार-बार उसे खाने के लिए ललचाती है। रसलोलुपता एवं चटोरेपन के कारण जीभ असंयम का कारण बन जाती है। सरस, स्वादिष्ट आहार कामविकार पैदा करता है। रसलोलुपता विकारोत्पत्ति का बहुत बड़ा कारण है। इससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ भी शरीर में पैदा होती हैं। यही कारण है कि भारतीय धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए सरस, स्निग्ध, स्वादिष्ट, उत्तेजक, मिर्च, मसालों वाले भोजन को संयम-विघातक माना है।

घी, तेल, मीठा, दूध, दही ये पाँचों विगइ भी विकृतिकारक मानी हैं। सरस, स्वादिष्ट एवं चटपटी चीजों के खाने से प्रायः शरीर में कामोत्तेजना पैदा होती है, इस स्थिति में ब्रह्मचर्य का पालन भी दुष्कर हो जाता है। शराब, तम्बाकू, अफीम, भंग आदि नशीले पदार्थ भी कामविकारवर्द्धक हैं। इनका सेवन भी ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है। अति-भोजन भी वीर्यनाशक एवं ब्रह्मचर्यघातक होता है, विकृत भोजन से वीर्य में विकार पैदा होता है। अत्यन्त खट्टे, चरपरे, तीखे, कड़वे, कसैले या अत्यन्त मीठे पदार्थ मानव-मन को विकृत बनाते हैं, वे भी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य हैं। जिह्वेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए जिह्वा पर संयम रखना बहुत आवश्यक है।

वर्तमान युग में अच्छे-अच्छे गृहस्थों के यहाँ भी खानपान में विवेक समाप्त हो गया है। खाने-पीने पर कोई संयम नहीं रहा। छोटे-छोटे बच्चों को चटपटी मसालेदार चीजें या मिठाइयाँ खिला-पिलाकर माता-पिता उनकी जीभ को असंयमी बना देते हैं। तब बड़े होने पर वे जिह्वा पर संयम कैसे रख सकते हैं?

जिह्वा पर असंयम रखने के कारण शैलक राजर्षि अपने संयम पथ से भ्रष्ट हो गये थे। यह ठीक है कि उनके सुयोग्य शिष्य पंथक ने उन्हें जागृत किया और पुनः संयमारूढ़ किया। इसी प्रकार बहुत-से साधक जिह्वेन्द्रिय संयम की उपेक्षा करके शीघ्र ही ब्रह्मचर्यपथ से विचलित होकर असंयमपथ पर चलते रहते हैं। इसीलिए शास्त्र में रसना-संयम पर अत्यधिक जोर दिया गया है।

स्पर्शेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य

स्पर्शनेन्द्रिय हमारी त्वचा है। वह जहाँ भी, जिस चीज को भी छूती है, उसकी कोमलता, कठोरता, शीतलता, उष्णता, हलकापन, भारीपन, स्निग्धता, रूक्षता आदि स्पर्शों का अनुभव करती है। अनुभव करे वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु वह फिर अनुकूल स्पर्श में आसक्ति और मोह करती है, उससे कामोत्तेजना पैदा होती है। ब्रह्मचारी के लिए कोमल एवं गुदगुदी, स्प्रिंगदार लचीली शय्या पर शयन इसीलिए वर्जित बताया है कि उस पर शयन करने से काम-विकार भड़कने का खतरा है। वैसे तो दूसरी वस्तुओं की तरह स्त्री और पुरुष एक दूसरे का स्पर्श करते हैं किन्तु स्पर्श होते ही मनुष्य के मन प्रसुप्त काम-विकार उत्तेजित हो जाते है। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधक को अपने से भिन्न किसी भी व्यक्ति का किसी खास कारण के बिना स्पर्श नहीं करना चाहिए।

स्पर्श से मानसिक कामविकार उत्पन्न होने का मुख्य कारण यह है कि त्वचा के ज्ञानतन्तुओं तथा शरीर के प्रजनन-अवयवों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थों से हुई है। इसीलिए प्राणिमात्र के अन्य समस्त अवयवों के स्पर्श की अपेक्षा जननेन्द्रिय का स्पर्श बहुत शीघ्र कामोत्तेजना उत्पन्न कर देता है। इसलिए जननेन्द्रिय स्पर्श से प्रत्येक ब्रह्मचर्य-साधक को सतर्कतापूर्वक बचना चाहिए। उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्मचारी को अपने या दूसरे किसी के भी गुप्तांगों का न तो स्पर्श करना चाहिए और न ही देखना चाहिए।

समस्त विषयों में सबसे अधिक निषेध स्पर्श का है। स्पर्श की तो कामना या भावना भी निषिद्ध है। कई बार स्त्री के सान्निध्य से या उसका रूप देखने से अथवा शब्द सुनने से पुरुष का चित्त चंचल हो उठता हो तो वह भी एक प्रकार का स्पर्श ही है। फिर भी ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का प्रत्यक्ष स्पर्श का विशेष निषेध है, वह इसलिए कि स्त्री-स्पर्श विषय-वासना को शीघ्र ही उत्तेजित करने वाला होता है। कुछ आचार्यों ने स्त्री-पुरुष के स्पर्श की तुलना अग्नि और घृत के सम्पर्क से की है।

यही कारण है कि कई लोगों ने ब्रह्मचर्य का अर्थ स्त्री-पुरुष के संयोग या संस्पर्श से बचने तक ही सीमित कर दिया है, किन्तु वह अधूरा और संकीर्ण अर्थ है। वस्तुतः आत्मा को अशुद्ध करने वाली विषय-वासनाओं और विकारों से मुक्त होना ही ब्रह्मचर्य का यथार्थ अर्थ है। स्त्री-संस्पर्श एवं सहवास का परित्याग ब्रह्मचर्य के अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करता; क्योंकि स्त्रीस्पर्श या सहवास से पहले कामविकार पैदा होने के कई क्रम हैं, जिन्हें मैं आगे बताऊँगा, उन सबसे बचना भी ब्रह्मचर्य-साधक के लिए आवश्यक है।

एक तथाकथित ब्रह्मचारी है, वह किसी स्त्री का स्पर्श नहीं करता, और न किसी स्त्री के साथ सहवास करता है, परन्तु उसके मन-मस्तिष्क में स्त्री-सहवास की वासना उठती रहती है, वह किसी भी नारी को देखकर काम से पीड़ित हो जाता है, किसी भी नारी के विषय में पढ़-सुनकर कामविह्वल हो जाता है, मन ही मन कामज्वर से पीड़ित रहता है। क्या उसे हम ब्रह्मचर्य का साधक कह सकते है? कदापि नही।

वस्तुस्थिति यह है कि केवल स्त्री से दूर रहने से ही वासना क्षीण नही होती, न ब्रह्मचर्य साधना ही हो सकती है। लड्डू अलमारी में रखा है। अलमारी के ताला लगा है। बच्चा बाहर से देख रहा है। उसका जी ललचाता है, लार टपकती है। आँखो से वह निरन्तर उस लड्डू को खा रहा है। बच्चे को लड्डू से अलग कर दिया गया है, लेकिन उसकी लालसा कम नही हुई। लड्डू पाने के लिए वह और भी उत्कण्ठित एवं लालायित हो उठता है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के केवल बाह्य स्पर्श-निषेध से कामवासना क्षीण नही होती, प्रत्युत अधिक तीव्र और उत्कट हो सकती है। वह क्षीण तभी हो सकती है, जब आँखों एवं मन से भी पुरुष साधक के लिए स्त्री-स्पर्श और नारी साधिका के लिए पुरुष-स्पर्श का स्वेच्छा से विकारदृष्टि से त्याग होगा।

जैनागमों में साधु-साध्वी को आपत्काल में आपवादिक रूप में निर्विकार भाव से एक-दूसरे को स्पर्श करने का विधान है। एक साध्वी नदी में डूब रही है, साधु नदी के किनारे-किनारे जा रहा है, अगर वह साधु तैरना जानता हो तो नदी में बहती हुई साध्वी को भुजाओं से पकड़कर या पीठ पर उठाकर बाहर ला सकता है। साधु-साध्वी एक दूसरे की विक्षिप्तता, असाध्य बीमारी, शील पर विपत्ति या लूट आदि के भय के समय अन्य कोई साध्वी या साधु सेवा करने वाला न हो तो साधु भ्रातृभाव से साध्वी की एवं भगिनी-भाव से साधु की परिचर्या कर सकते हैं, आवश्यकता होने पर एक-दूसरे को उठा-बिठा भी सकते हैं। इतना होने पर भी उनका ब्रह्मचर्यव्रत भंग नहीं

होता। ब्रह्मचर्य भंग तब होता है यदि वे भ्रातृभाव या भगिनी-भाव की निर्विकारिता का उल्लंघन कर देते हैं, मन में जरा-सा भी वासना का अंकुर पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे प्रायश्चित्त के भागी बताये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि साधु साध्वी को विकारभाव से, स्वच्छन्द रूप से अकारण एक दूसरे का या स्त्री-पुरुष का स्पर्श करने का निषेध है। क्योंकि विकारभाव से या उच्छृंखल रूप से स्पर्श होने पर सुषुप्त काम विकार के उद्दीप्त होने की सम्भावना है।

इसलिए ब्रह्मचारी के लिए शरीर-स्पर्श काम-विकारभाव की दृष्टि से वर्ज्य है। काम-वासना का उत्पन्न होना ही ब्रह्मचर्य साधना का दोष है। चूँकि पाँचों इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्ति ही कामोत्तेजना का साधन है, इसलिए ब्रह्मचर्य साधना में कामविकार को उत्तेजित करने के साधन के रूप इन्द्रियों पर नियंत्रण या संयम रखना आवश्यक बताया है।

मनोनिरोध : ब्रह्मचर्य साधना का मेरुदण्ड

ब्रह्मचर्यसाधना की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए पंचेन्द्रियनिग्रह की अपेक्षा भी मनोनिग्रह या मनोनिरोध को विशेष महत्त्व दिया गया है। क्योंकि इन्द्रियों की चाबी मन के पास है। मन ही इन्द्रियों का गुरु है, वह इन्हें जिधर घुमाना चाहे, घुमा सकता है। मन को संकल्प-विकल्पात्मक कहा है। वह हर समय कुछ न कुछ उधेड़-बुन करता ही रहता है। अगर ब्रह्मचारी साधक बाहर से सभी इन्द्रियों को निश्चेष्ट बनाकर बन्द करके बैठ जाए, किन्तु मन से विषयों का स्मरण करता रहे, मन में विषय-प्राप्ति की लालसा करता रहे तो भगवद्गीता में उसे मिथ्याचार (दम्भ) कहा है।[1] इसलिए इन्द्रियसंयम के साथ-साथ पहले मन पर नियंत्रण करना ब्रह्मचर्य-साधक के लिए आवश्यक है।

मनोनिरोध के मामले में बड़े-बड़े योगी, साधक भी हार खा जाते हैं। अर्जुन जैसा जिज्ञासु साधक मन के निरोध को वायु को पकड़ने की तरह दुष्कर मानकर कर्मयोगी श्रीकृष्ण से मनोनिरोध का उपाय पूछता है। मनोनिग्रह के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दो उपाय बताए, अभ्यास और वैराग्य। अभ्यास का अर्थ है—सतत प्रयत्नशील रहना, जागरूक रहने का प्रयत्न करना, और वैराग्य का अर्थ है—प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयों के प्रति आसक्ति

---

[1] कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

तृष्णा एवं आसक्ति से दूर रहना, विषयों के प्रति विरक्ति रखना। जो व्यक्ति अभ्यास एवं वैराग्य की साधना में पारंगत हो जाता है, वह अपने मनो-विकारों को आसानी से जीत सकता है।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने मनोविजय का उपाय बताते हुए योगशास्त्र में कहा है—इन्द्रिय विजय के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है। मनःशुद्धि करके साधक को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

मनःशुद्धि के बिना यम-नियमों का पालन साध्य प्राप्त नहीं करा सकता। मन इन्द्रियों का संचालक है, वही उन्हें विषयों में प्रेरित करता है और वही उन्हें विषयों से विरत करके आत्मसेवा में लगा सकता है। मन पर विजय पा लेने से इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। जो साधक मन का निग्रह नहीं कर सकता, वह इन्द्रियनिग्रह भी नहीं कर सकता। केवल पंचेन्द्रियनिग्रह कर लेना ही ब्रह्मचर्य नहीं बल्कि समस्त इन्द्रियों और मन को विषय-विकारों से विरक्त रखना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य-साधना में इन्द्रियों के निग्रह के साथ मनोनिरोध भी आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का व्यावहारिक लक्षण

यद्यपि मैं पहले बता चुकी हूँ कि समस्त इन्द्रियों और मन का दुर्विषयों में विकार-भाव से न दौड़ना ब्रह्मचर्य है, तथापि व्यवहार में वीर्यरक्षा को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। इस व्यावहारिक लक्षण—अर्थात् पूर्णरूप से वीर्य-रक्षा—से भी फलितार्थ यही निकलेगा कि सभी इन्द्रियों और मन का दुर्विषयों में विकारभाव से न दौड़ना। क्योंकि वीर्यरक्षा भी सर्वथा तभी हो सकेगी, जब मन और इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर दौड़ नहीं लगाएँगी। यदि एक भी इन्द्रिय दुर्विषय की ओर दौड़ती है अथवा मन के किसी कोने में जरा-सा भी वासना-विकार आ गया तो सम्पूर्णतया वीर्यरक्षा होना असम्भव है। अतः पूर्णरूप से वीर्यरक्षा का अर्थ भी सब प्रकार के असंयमों का सर्वथा, सर्वत्र और सर्वदा त्याग है।

अष्टविधमैथुन से विरति : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के अनेक अर्थों में एक अर्थ यह भी है जिसे भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों और तीर्थंकरों ने बताया है। वह है—**सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं**—सर्वप्रकार के मैथुनों से विरत होना।

दक्षस्मृति में मैथुन के आठ प्रकार या अंग बताए हैं। उन आठ प्रकार के मैथुनों से विरत होना ही ब्रह्मचर्य है। अष्टविध मैथुन इस प्रकार है—स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा, प्रेक्षण, गुह्य (एकान्त) भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और

सम्भोग। इन आठ प्रकार के मैथुनभाव का परित्याग करना ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य कहलाता है।[१]

त्रिविध ब्रह्मचर्य

स्मरण से सम्भोग तक मैथुन के जो आठ भेद बताये हैं, उनमें मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रकार का अब्रह्मचर्य आ जाता है। इस त्रिविध अब्रह्मचर्य से अपनी वीर्यशक्ति की सुरक्षा करने का विधान शास्त्रों में किया गया है। मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा ही वह बोलता है, और जैसा बोलता है, वैसा ही वह आचरण करता है।

अतः विचार, वाणी और आचरण तीनों पर संयम रखना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करने के लिए मन, वचन और शरीर—तीनों पर संयम रखना चाहिए। अर्थात्—न मन में ही अब्रह्मचर्य की भावना हो, न वचन द्वारा अब्रह्मचर्य की भावना प्रगट हो और न शरीर द्वारा ही अब्रह्मचर्य की क्रिया की गई हो, इसका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों ब्रह्मचर्य मिलकर पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है—शरीर से, मन से और वचन से सदा और सर्वत्र सभी अवस्थाओं में मैथुन-त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है।[२]

कायिक ब्रह्मचर्य वह है, जिसके होने पर शरीर द्वारा अब्रह्मचर्य की कोई भी चेष्टा न हुई हो। वाचिक ब्रह्मचर्य वह है, जिसके रहते कोई भी विकारवर्द्धक या कामोत्तेजक वचन न निकाला गया हो। मानसिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में मन में किसी भी प्रकार का दुर्विषयों का, कामवासना का चिन्तन या अब्रह्मचर्य का भाव उत्पन्न न हुआ हो। मानसिक, वाचिक और कायिक इन तीनों में परस्पर कर्त्ता, कर्म और क्रिया का सम्बन्ध है। इसलिए तीनों प्रकार का ब्रह्मचर्य होने पर ही पूर्ण ब्रह्मचर्य माना जाएगा। एक के अभाव में दूसरे और तीसरे का सहसा नहीं तो धीरे-धीरे अभाव होना स्वाभाविक है।

ब्रह्मचर्य के इन तीनों प्रकारों में मुख्यता मानसिक ब्रह्मचर्य की है। यदि मन में ब्रह्मचर्य नहीं है तो वह वचन और शरीर में कहाँ से आयेगा?

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥३१॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥३२॥ —दक्ष स्मृति अ० ?

२. कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो, ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

जो व्यक्ति अपने मन को संयमित नहीं रख सकता, वह ब्रह्मचर्य-साधना में कदापि सफल नहीं हो सकता। अन्तर्मन में जरा-सा भी कामविकार आते ही ब्रह्मचर्य-साधना खण्डित हो जाती है।

ब्रह्मचर्य : विभिन्न अर्थों में

ब्रह्मचर्य के लिए भारतीय धर्मग्रन्थों में उपस्थसंयम, वस्तिनिरोध, मैथुन-विरमण, शील, वासनाजय, सर्वेन्द्रियसंयम—इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। योग-साधना में इन्द्रियसंयम तथा चित्तवृत्तिनिरोध को ब्रह्मचर्य कहा गया है। जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य शब्द के लिए शील और मैथुनविरमण शब्दों का प्रयोग विशेषरूप से उपलब्ध होता है। सूत्रकृतांग सूत्र की टीका में शीलांकाचार्य ने ब्रह्मचर्य का अर्थ किया है—"जिसमें सत्य, तप, भूतदया और इन्द्रियनिरोधरूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है।" बौद्ध धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१. निर्वाण की प्राप्ति हो, वह धर्म, २. बौद्धधर्म में निवास और ३. बुद्ध प्रतिपादित धर्ममार्ग। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य का अर्थ—'वेद के अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म किया गया है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य जब साधक के जीवन में परिनिष्ठित हो जाता है, तब साधक का विकारों पर इतना अधिकार हो जाता है कि उसकी धारणा या भावना के विरुद्ध एक भी गलत विचार नहीं आता।

वैसे साधारणतया ब्रह्मचर्य शील[1] एवं सदाचार के अर्थ में माना जाता है। क्योंकि पूर्णरूप से शील का अंगीकार करने वाला व्यक्ति न जीव-हिंसा करेगा, न असत्य बोलेगा, न चोरी करेगा, न परिग्रहवृत्ति रखेगा। अतः पूर्णतया सदाचार-पालन को भी शील या ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ अकुशल[2] कर्मों का त्याग करना भी है। इस अर्थ से भी हिंसादि पाँचों पापकर्मों का त्याग ब्रह्मचर्य से ध्वनित हो जाता है।

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य का अर्थ किया है—ब्रह्म अर्थात् सत्य की शोध में चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचरण।

इन समस्त अर्थों का फलितार्थ और ब्रह्मचर्य का सर्वव्यापक लक्षण यह है कि आत्मा को विकारीभावों से हटाकर शुद्ध परिणति में केन्द्रित करना। आत्मा की शुद्ध परिणति ही परमात्मभाव में रमणता है, अनन्त

---

१. 'शीलं ब्रह्मचर्यम्' —समवायांगवृत्ति
२. "अब्रह्म अकुशल कर्म"

सत्य या परब्रह्म को प्राप्त करने की साधना है। गीता में स्पष्ट कहा गया है—जो साधक परमात्मभाव को प्राप्त करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उसके बिना परमात्मभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। आज परमात्मा के प्रति विश्वास न होने के कारणों में से एक कारण है ब्रह्मचर्य का अभाव। जीवन में यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो तभी परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा टिक सकती है।

सारांश यह है—इन्द्रियों और मन पर सर्वांशतः विजय प्राप्त करके विषय-वासनाओं और मैथुनांगों से सर्वथा दूर रहकर सर्वदा वीर्यरक्षा करते हुए मन-वचन-काया की शक्ति को आत्मचिन्तन, आत्महित साधन, आत्मविद्याध्ययन में लगाकर परमात्मभाव को प्राप्त करने का 'पुरुषार्थ करना ब्रह्मचर्य' है।

मैंने ब्रह्मचर्य के विराट एवं सर्वांगीण स्वरूप में पाँच प्रकारों का उल्लेख किया—(१) शारीरिक, (२) ऐन्द्रियक, (३) वाचिक, (४) मानसिक एवं (५) आत्मिक। ब्रह्मचर्य के इन पाँचों प्रकारों का पर्यवसान आत्मिक ब्रह्मचर्य में होता है। उसी के द्वारा सिद्धत्व और मोक्ष की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

> एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
> सिज्झा सिज्झंति चाणेण सिज्झिस्संति तहावरे॥

—यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव, नित्य, अविनाशी, शाश्वत और वीतराग देव द्वारा निर्दिष्ट है। इसी धर्म से सिद्ध हुए है, सिद्ध होते हैं और सिद्ध (मुक्त) होंगे।

आप भी इस शाश्वतधर्म—ब्रह्मचर्य के सर्वांगीण स्वरूप को हृदयंगम करके जीवन में अपनाइए। □□

---

१. यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। —गीता

11

काम-विष : अमृत के रूप में

जीवन एक उद्यान

मनुष्य-जीवन एक उद्यान है। उद्यान को अच्छी स्थिति में रखने और उससे तरोताजगी एवं स्वस्थता प्राप्त करने के लिए चारों ओर से उसकी सुरक्षा रखनी पड़ती है। कोई उद्यान में घुसकर उसे बिगाड़ न दे, कोई उसके फूल, फल, पौधे, पत्ते आदि तोड़कर उसे उजाड़ न दे, कोई पौधा या बेल पानी के अभाव में सूख न जाय; कौन-से पौधे व फूल को कीड़ा लगने से बचाया जाय? किस पौधे या बेल के विकास के लिए खाद दी जानी है? किस पौधे को पानी देना है? कहाँ निकाई की जाय? कौन-सा मेंड़ टूट रहा है या क्यारी टूट रही है? उसे ठीक किया जाए। इत्यादि सब बातों का ध्यान कुशल माली रखता है। जो इस प्रकार उद्यान की चारों ओर से निगरानी और सावधानी रखता है, उसी का उद्यान सुन्दर, सुरभित व्यवस्थित, हरा-भरा और सुरक्षित रहता है। उसमें पौधे खूब फलते-फूलते हैं, बेलें भी हरदम छाई रहती हैं, आस-पास का वातावरण भी सौरभ से महकता रहता है। ऐसे उद्यान से उसका माली और मालिक तो लाभ उठाते ही हैं, उस उद्यान के सम्पर्क में आने वाले अन्य लोग भी लाभ उठाते हैं। उन्हें भी प्रसन्नता होती है, माली और मालिक को भी प्रसन्नता होती है। पूर्ण विकसित, पुष्पित, पल्लवित और सुरक्षित उद्यान से सभी को प्रेरणा मिलती है।

इतने प्रबन्ध न जुटाकर या इतनी सुरक्षा-व्यवस्था न करके यदि माली लापरवाह रहे, दिन भर आलसी बनकर सोया रहे, किसी प्रकार की निगरानी न रखे अथवा उसकी आँखें केवल फल ढूँढ़ने में ही लगी रहें या उसकी नासिका फूलों की सुगन्ध लेने के लिए ही उतावली हो तो क्या उसकी यह आशा पूर्ण होगी? कदापि नहीं। उसका वह उद्यान अव्यवस्थित और उजाड़ हो जायगा। कुछ ही दिनों में हरे-भरे पेड़ों की जगह सूखे ठूँठ मिलेंगे, फूली-फली बेलों के बदले मुर्झाई हुई फल-पुष्परहित लताएँ दृष्टिगोचर होंगी।

पतझड़ की तरह सारा वातावरण शुष्क, निष्प्राण और नीरस प्रतीत होगा। वहाँ किसी को भी आनन्द, उल्लास, ताजगी और स्फूर्ति नहीं मिलेगी।

ठीक यही बात जीवनरूपी उद्यान के सम्बन्ध में समझ लीजिए। अगर आप भी जीवनरूपी उद्यान में लगे हुए तन, मन और वचनरूपी पेड़-पौधों की निगरानी नहीं रखेंगे; उसमें लगी हुई पाँचों इन्द्रियों रूपी लताओं की सुरक्षा-व्यवस्था नहीं रखेंगे, तब उनमें लगे हुए ब्रह्मचर्य, वीर्य-संयम, निग्रह आदि फूलों का तथा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक बलरूपी फलों की प्राप्ति कैसे होगी?

उस लापरवाह एवं अविवेकी माली की तरह यदि जीवनरूपी उद्यान का माली ब्रह्मचारी साधक पेड़-पौधों और लताओं में कामविकार का घुन लगते देखकर, वासना की आग से तन, मन और वचनरूपी पेड़-पौधों को झुलसते देखकर तथा विषयरूपी पशुओं द्वारा घुसकर उद्यान के पेड़-पौधों और लताओं को नष्ट-भ्रष्ट किये जाते हुए देख करके भी लापरवाह और अविवेकी बना रहे तो क्या दशा होगी उस उद्यान की? वह जीवन-उद्यान भी शीघ्र ही उजड़ जाएगा, उस उद्यान के तन-मनरूपी पेड़-पौधे दुर्बल, अशक्त, रुग्ण और जर्जर होकर अस्त-व्यस्त, जीर्ण-शीर्ण, अशान्त, दुःखी और चिन्तित हो जायेंगे। फिर उनमें संयम, ब्रह्मचर्य, निग्रह, वीर्य आदि फूल कैसे दृष्टिगोचर ही कहाँ से होंगे? और शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों तो प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं है।

यह है जीवन-उद्यान की असुरक्षा का परिणाम!

क्या आप अपने जीवनरूपी उद्यान को सुरक्षित रखना चाहते हैं? यदि हाँ तो, आप अपनी आत्मा, मन और बुद्धि को, अपने शरीर और इन्द्रियों को कामवासना के क्षुद्र जहरीले कीटाणुओं से—अब्रह्मचर्य से अपने जीवन को बचाइए। जहाँ कहीं भी आपको इस जीवन-उद्यान में विषयरूपी पशु घुसते दिखाई दें, तुरन्त उन्हें खदेड़ दीजिए, जहाँ भी मैथुनरूपी जहरीली वायु प्रवेश होती दीखे, फौरन आप उससे दूर होकर अपने जीवन-उद्यान को बचाने का प्रयत्न करिए।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि अब्रह्मचर्य रूपी पशु या कीट कौन-कौन से हैं? वे किस-किस रूप में हमारे जीवन-उद्यान में घुस आते हैं? उनसे कैसे-कैसे सुरक्षा की जाए?

ये प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पिछले प्रवचन में मैंने ब्रह्मचर्य के सर्वांगीण विराट स्वरूप के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। उसमें यह तो बताया

भलीभाँति विदित हो गया होगा कि केवल आध्यात्मिक साधक के लिए ही नहीं, झोंपड़ी से लेकर महलों तक में रहने वालों, सामान्य गृहस्थों, विद्वानों, कवियों, व्यापारियों, कल-कारखानेदारों, श्रमिकों, कृषकों, निर्धनों सभी के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है, सभी के लिए ब्रह्मचर्य आनन्ददायक है, ब्रह्मचर्य सभी का जीवन सुखी और शान्तिपूर्ण बनाने वाला है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम ब्रह्मचर्य के शत्रु—अब्रह्मचर्य से दूर रहें, अब्रह्मचर्य को अपने पवित्र जीवन-उद्यान में, परमात्मा के इस मन्दिर में, तन-मन-वचन में, नयन-श्रवण-घ्राण-रसन-स्पर्शन में न घुसने दें, आते ही उसे खदेड़ दें। परन्तु अब्रह्मचर्य को पहिचानना भी सर्वप्रथम आवश्यक है, शत्रु को पहिचाने बिना उससे सावधान रहना अत्यन्त कठिन होता है। काम मानव-जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है, क्योंकि वह मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में भटकाता है, दुर्गतियों में—कुयोनियों में बार-बार पटकता है। भगवान् महावीर ने फरमाया है—

> कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
> पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥[1]

वह साधक श्रमणत्व—श्रमणधर्म का पालन कैसे कर सकता है, जो कामरूप शत्रु का निवारण नहीं करता। ऐसा व्यक्ति काम के विविध संकल्प-विकल्पों के वश होकर पद-पद पर दुःख पाता है।

भगवद्गीता में भी कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने बताया है—"अर्जुन! यह काम ही क्रोध है, आवेश है, यह रजोगुण से उत्पन्न होता है, बहुभोजी है, महापापी है, इसे तुम अपना वैरी समझो। कामरूपी दुर्निवार शत्रु को झटपट छोड़ दो।"[2]

मन की मूलशक्ति : काम-वासना

मनोविज्ञानवेत्ताओं के इस प्रश्न पर अनेक मतभेद हैं कि मन की मूल शक्ति कौन-सी है? उसका स्वरूप क्या है? कामविज्ञान विशेषज्ञ डॉ० फ्रायड का मत है कि काम (वासना) ही मन की मूलशक्ति है। वह इसको लिबिडो (Libido) कहता है। लिबिडो एक फ्रांसीसी शब्द है, जिसका अर्थ

---

१. दशवैकालिक सूत्र, अ० २, गा० १

२. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
जहि शत्रु महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्। —भगवद्गीता

नदियों में प्रतिवर्ष प्रायः बाढ़ आती है। जब बाढ़ आती है तो वह भयंकर रूप से घरों, लोगों का नाश करती है, चारों ओर विनाशलीला उपस्थित कर देती है। कुशल इंजीनियर नदी में आई हुई बाढ़ को रोकने के लिए बाँध (Dam) बाँधते हैं और उसके प्रवाह को बदल देते हैं, जिससे वह पानी विनाश न करके आसपास की धरती को सींचकर उसे हरी-भरी और उपजाऊ बना देता है। यही बात मनुष्य की काम-शक्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जो काम-शक्ति विषयविकार का चिन्तन करके पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त होकर उनका उपभोग करके आत्मशक्ति को बर्बाद कर देती थी, उस कामशक्ति को आत्मविकास की ओर मोड़ देने से वही आत्मशक्ति को बढ़ाने वाली बन सकती है।

यह तो निश्चित है कि जब तक ब्रह्मचर्यसाधक अपने मन-वचन-काया को आत्मचिन्तन एवं आत्मसाधना में नहीं लगा देता, तब तक वह ब्रह्मचर्य-साधना में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी कामशक्ति के प्रवाह को विषयोपभोग से हटाकर परिवार, समाज, धर्म, राष्ट्र एवं विश्व की सेवा एवं स्वपर-कल्याणसाधना की ओर मोड़ दे। यानी इनमें अपनी शक्तियों को लगा दे। इसलिए साधक के लिए यह उचित है कि वह धर्म-साधना और संघ-सेवा को अपना ध्येय बनाकर चले। जब उसके मन-वचन-काया ये तीनों योग किसी एक बृहद् ध्येयलक्षी शुभकार्य में स्थिर हो जाएँगे तो न तो विषय-वासनाओं की ओर दौड़ लगाने का अवसर मिलेगा, न ही कामविकार के चिन्तन का अवकाश प्राप्त होगा।

यह देखा गया है कि बहुत-से व्यक्ति अपनी कामशक्ति को कामवासना से हटाकर प्रभुभक्ति, ग्रन्थलेखन, राष्ट्रसेवा, समाजसेवा, विज्ञान के प्रयोग एवं आविष्कार आदि किसी बृहद् ध्येयलक्षी कार्य में लगा देते हैं, जिससे उन्हें कामवासना की ओर सोचने का कभी अवकाश ही नहीं मिलता।

ऐसे कुछ उदाहरण मैं आपको समक्ष रखती हूँ—

गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी नवोढ़ा पत्नी रत्नावली के वासनामय प्रेम में इतने आकंठ डूबे हुए थे। एक बार रत्नावली उनको बिना बताये भाई के साथ अपने मायके चली आई तो वे विकल हो गये और रात्रि के अन्धकार में उफनती नदी में एक मुर्दे की ठठरी पर बैठकर नदी पार करली और साँप को रस्सी समझकर दीवार लाँघ कर अपनी ससुराल में प्रवेश कर गए। रत्नावली के कक्ष में जा पहुँचे। किन्तु जब रत्नावली ने खिन्न होकर उन्हें तीखा उपालम्भ दिया तो उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। उन्होंने

सब विकार स्वयं ही शांत हो जाते हैं। जो निठल्ला रहता है, आलसी बन कर पड़ा रहता है या इधर-उधर की गप्पें हांककर अपना समय बिताता है, उसका खाली दिमाग शैतान का कारखाना बन जाता है।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती कहते थे—'मुझे कामदेव ने कदापि पीडित नहीं किया क्योंकि मैं सदैव किसी न किसी शुभ प्रवृत्ति में निमग्न रहता हूँ, जिससे मुझे पीड़ित करने का उसे अवसर ही न मिले।'

रूस की मिस कैथराइन ने बचपन से अपने जीवन को आदर्श समाज-सेवा के सांचे में ढाल लिया। यौवन और धन दोनों होते हुए भी अपना जीवन बिल्कुल सादा बिताते हुए कैथराइन ने गरीबों, पिछड़ी जातियों एवं अशिक्षित ग्रामीणों की झोंपड़ियों में जाकर माता की तरह सेवा की। भला, ऐसी समाजसेवा निमग्न युवती को कामविकार कैसे पीड़ित कर सकता था?

कामशक्ति का शोधन

कामशक्ति के शोधन का अर्थ है—जो इन्द्रियाँ और मन विकृत विषयों की ओर जाकर गलत कार्य करते हैं, उनका शोधन करके शुभ विषयों की ओर लगाना। जैसे आधुनिक तर्जों पर बने हुए फिल्मी गीत अश्लीलता के कारण कामुकता जगाते है, परन्तु एक कवि आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरित गीत उन्ही सिनेमा की तर्जों में बनाते हैं।

संत सूरदास ने कृष्णभक्ति का विकृत रूप देखकर शृंगार रस की कविताएँ न बनाकर वात्सल्य रस से ओतप्रोत कविताओं में बाललीला का वर्णन करकर श्रीकृष्ण भक्ति का परिचय दिया।

भक्त मीराबाई ने विवाहित होते हुए भी कृष्ण को पति मानकर अपनी भगवद्-भक्ति का परिचय दिया। मीराबाई की कविताएँ भक्तिरस से परिपूर्ण है।

इस प्रकार कई संतों ने अपनी कामशक्ति का शोधन करके उसे परमात्म-भक्ति में ओतप्रोत कर दिया। मुनि स्थूलभद्र उन सबमें सर्वोत्तम हैं। जो कोशा वेश्या उनकी पूर्व प्रेमिका थी, उसी के यहाँ रागरंग भरे मादक वातावरण में रहकर भी उन्होंने कामवासना अपने मन-वचन-काय में जरा भी जागृत न होने दी। कोशा का हृदय परिवर्तन एवं जीवन-परिवर्तन कर दिया स्थूलभद्र की कामविरक्ति ने।

---

1. Empty mind is a devil's workshop.

सब विकार स्वयं ही शांत हो जाते हैं। जो निठल्ला रहता है, आलसी बन कर पड़ा रहता है या इधर-उधर की गप्पें हांककर अपना समय बिताता है, उसका खाली दिमाग शैतान का कारखाना बन जाता है।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती कहते थे—'मुझे कामदेव ने कदापि पीड़ित नहीं किया क्योंकि मैं सदैव किसी न किसी शुभ प्रवृत्ति में निमग्न रहता हूँ, जिससे मुझे पीड़ित करने का उसे अवसर ही न मिले।'

रूस की मिस कैथराइन ने बचपन से अपने जीवन को आदर्श समाज-सेवा के सांचे में ढाल लिया। यौवन और धन दोनों होते हुए भी अपना जीवन बिल्कुल सादा बिताते हुए कैथराइन ने गरीबों, पिछड़ी जातियों एवं अशिक्षित ग्रामीणों की झौंपड़ियों में जाकर माता की तरह सेवा की। भला, ऐसी समाजसेवा निमग्न युवती को कामविकार कैसे पीड़ित कर सकता था?

कामशक्ति का शोधन

कामशक्ति के शोधन का अर्थ है—जो इन्द्रियाँ और मन विकृत विषयों की ओर जाकर गलत कार्य करते हैं, उनका शोधन करके शुभ विषयों की ओर लगाना। जैसे आधुनिक तर्जों पर बने हुए फिल्मी गीत अश्लीलता के कारण कामुकता जगाते हैं, परन्तु एक कवि आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरित गीत उन्हीं सिनेमा की तर्जों में बनाते हैं।

संत सूरदास ने कृष्णभक्ति का विकृत रूप देखकर शृंगार रस की कविताएँ न बनाकर वात्सल्य रस से ओतप्रोत कविताओं में बाललीला का वर्णन करकर श्रीकृष्ण भक्ति का परिचय दिया।

भक्त मीराबाई ने विवाहित होते हुए भी कृष्ण को पति मानकर अपनी भगवद्-भक्ति का परिचय दिया। मीराबाई की कविताएँ भक्तिरस से परिपूर्ण हैं।

इस प्रकार कई संतों ने अपनी कामशक्ति का शोधन करके उसे परमात्म-भक्ति में ओतप्रोत कर दिया। मुनि स्थूलभद्र उन सबमें सर्वोत्तम हैं। जो कोशा वेश्या उनकी पूर्व प्रेमिका थी, उसी के यहाँ रागरंग भरे मादक वातावरण में रहकर भी उन्होंने कामवासना अपने मन-वचन-काय में जरा भी जागृत न होने दी। कोशा का हृदय परिवर्तन एवं जीवन-परिवर्तन कर दिया स्थूलभद्र की कामविरक्ति ने।

1. Empty mind is a devil's workshop.

काम का तात्कालिक विमुखीकरण

काम से विमुख होने के कई क्षण जीवन में आते हैं, जबकि तीव्र कामवेग एक बार के लिए तो एकदम शान्त हो जाता है।

एक प्रेयसी अपने प्रेमी के कमरे पर स्वयं पहुँची, परन्तु पलंग पर पैर रखते ही विषधर ने फूंकार मारी तो महराग की प्रवृत्ति भयंकर भीति के रूप में परिणत होकर भाग गई। यह काम वासना का क्षणिक विमुखीकरण है।

अज्ञान पुरुष किसी युवती के साथ एकान्त में था, सहसा गुरुजन आ गए। काम की उद्दीप्त ज्वालाएँ शान्त हो गईं।

इसी प्रकार कामवासनापूर्वक पति-पत्नी एक-दूसरे को आलिंगन के लिए उद्यत थे, तभी उनका पुत्र बेहोश हो गया। यह देखकर दोनों पुत्र-सेवा में लग गये।

निष्कर्ष यह है, किसी दूसरे आवश्यक कार्य में अपने आपको लगा देने या लग जाने से कामवासना काफूर हो जाती है।

कामशक्ति को आत्मशक्ति के रूप में प्रगट कर दो

निष्कर्ष यह है कि काम की शक्ति आत्मा की अपनी नहीं है, वह बाहर से आई हुई है। आत्मा की ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि जो शक्तियाँ हैं, उन पर उसने आवरण डाल दिया है। कामवासनाओं के कारण आत्मा की मूल शक्तियाँ दबी रहती हैं। ब्रह्मचर्यसाधक का काम है—कामशक्ति को हटाकर सुषुप्त आत्मशक्तियों को जागृत कर देना। स्वर्ण पात्र कीचड़ में पड़ गया है। उसके कारण उसकी चमक कम हो गई है। चमक लाने के लिए मांजने वाला उसे घिसता है, कीचड़ को दूर करता है। ऐसा करके वह उसमें नई चमक पैदा नहीं कर रहा है, परन्तु उस स्वर्ण पात्र में जो चमक थी, कीचड में पड़ने के कारण वह दब गई या छिप गई थी, उसे मांजकर प्रगट कर देता है। सोने के पात्र में चमक तो साफ करने से पहले भी विद्यमान थी, मांजनेवाले ने कीचड़ से लथपथ सोने के पात्र की दबी हुई चमक को साफ करके पुनः उसे असली रूप में ला दिया। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। आत्मा में ब्रह्मचर्य शक्ति कहीं बाहर से नहीं लानी है, वह तो अन्दर ही पड़ी है, काम-विकारों ने उसे दबा रखा है, उसी मूल शक्ति को प्रगट करना है।

मैंने जो-जो उपाय बताए हैं, उन्हें अपनाकर आप अपनी ब्रह्मचर्य-शक्ति को प्रगट करके कामविष को अमृत के रूप में परिणत कर दीजिए।

□□

12

परिग्रह क्या और किस-किस रूप में

किसी भी विषय को सही ढंग से समझने के लिए उसके मूल कारण को जानना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—भवन की मजबूती उसमें लगे सीमेंट, चूने, ईंट, गार्डर तथा अन्य सामग्री की उत्तम क्वालिटी तथा बनाने वाले इंजीनियर, राज-मजदूरों की कुशलता पर निर्भर है। वस्त्र की मजबूती उसकी बुनावट तथा उसमें प्रयुक्त हुए धागे पर आधारित है। धागे की मजबूती अथवा विशिष्ट क्वालिटी और भवन-निर्माण की सामग्री की उत्तमता इन वस्तुओं को सुन्दर एवं टिकाऊ बनाने का मूल कारण है। जब तक इन वस्तुओं के बारे में ज्ञान न हो तब तक मनुष्य वस्त्र और भवन की मजबूती के बारे में कुछ नहीं जान सकता।

यही बात परिग्रह के साथ है। परिग्रह को जानने-समझने से पहले उसके मूल कारण के बारे में जान लेना आवश्यक है, तभी आप लोग इस विषय को भलीभाँति हृदयंगम कर सकेंगे। अतः मैं सबसे पहले परिग्रह के मूल कारण के बारे में ही अपने विचार आपके समक्ष रखूँगी।

परिग्रह का मूल कारण

परिग्रह का मूल कारण इच्छा है। जब पदार्थों की इच्छाएँ तीव्र हो जाती हैं तो उन पदार्थों को ग्रहण करने की लालसा जागती है।[1] उन पदार्थों के प्रति आसक्ति और ममता बढ़ जाती है। यह आसक्ति, ममता, तृष्णा, वासना और इच्छा ही वास्तव में परिग्रह है।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछती हूँ कि परिग्रह अपने आप में क्या चीज है? केवल ग्रहण करना ही अगर परिग्रह होता तो साधु-सन्त सड़क पर या किसी मकान में चलते हैं, बैठते हैं, तब उसे ग्रहण तो करना ही पड़ता है, तो क्या उनका इस प्रकार से सड़क या मकान आदि को ग्रहण करना परिग्रह हो गया?

---

1. 'परिग्रहणं परिग्रहः' जिसे ममत्वादिपूर्वक चारों ओर से ग्रहण किया जाए, वह परिग्रह है।

—स्थानांग-वृत्ति

हवा, पानी, आहार, पुस्तक, शास्त्र आदि को भी तो साधु-सन्त ग्रहण करते ही है, तो क्या वे भी परिग्रह हो जाएँगे ?

यदि परिग्रह की यह परिभाषा करेंगे तो पद-पद पर साधु-सन्त भी परिग्रही कहलाने लगेंगे। साधु-सन्तों को आचार्य, उपाध्याय एवं तपस्वीरत्न, प्रवचनभूषण, पंजाबकेसरी, राजस्थानकेसरी आदि पद सारा संघ मिलकर देता है, साधु उसे ग्रहण कर लेता है। तो क्या यह पद भी उसके लिए परिग्रह हो जाएगा।

वस्तु ग्रहण करना ही परिग्रह हो तो शरीर, कर्म एवं उपधि (धर्मोपकरण) भी परिग्रह की परिधि में आ जाएँगे। क्योंकि समस्त सांसारिक आत्माओं ने शरीर को ग्रहण कर रखा है। संसार-अवस्था में रहते हुए कोई भी ऐसा समय नहीं आता, जब कोई प्राणी शरीर से पूर्ण मुक्त हो जाए। एक गति से दूसरी गति में जाते समय भी तैजस् और कार्मण (सूक्ष्म) शरीर तो साथ रहता ही है। इसी प्रकार कर्म भी तब तक पिंड नहीं छोड़ता, जब तक आत्मा सर्वथा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध नहीं हो जाता। कोई भी समय ऐसा नहीं आता, जबकि संसारी आत्मा के साथ नये कर्म सम्बद्ध न होते हों। इस दृष्टि से कर्म का ग्रहण भी संसारी आत्मा से होता रहता है। और उपधि ? यह भी प्रत्येक संसारी आत्मा को जीवनयापन के साधन के रूप में ग्रहण करनी ही पड़ती है। पूर्णतः नग्न रहने वाले साधु को भी मोरपिच्छी और कमण्डलु रखना पड़ता है। धामधूम, तख्त—शय्या, मकान, स्वाध्याय के लिए पुस्तक ग्रन्थ आदि भी ग्रहण करने पड़ते हैं। यह आहार-पानी, शिष्य-शिष्याओं आदि को भी स्वीकार करता है। अतः वस्तु को ग्रहण करना ही परिग्रह माना जाए तो दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति अपरिग्रह व्रत की साधना ही नहीं कर सकेगा।

परिग्रह की परिभाषा

अतः आचार्यों ने इस भ्रान्ति के निवारणार्थ परिग्रह की परिभाषा की 'मूर्च्छा परिग्रहः'[1]। इसका मूलस्रोत भगवान महावीर के द्वारा मान्य परिग्रह की परिभाषा में मिलता है। वहाँ यह स्पष्ट बता दिया गया है कि "निर्ग्रन्थ मुनि जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, धारण या ग्रहण करते हैं, वे सब संयम-रक्षार्थ एवं लज्जानिवारणार्थ हैं, धर्मपालन के लिए हैं, उन सबको ज्ञातपुत्र महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है। उस जगत्त्राता तीर्थंकर देव ने मूर्च्छा

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र

को परिग्रह कहा है।"[1] इस दृष्टि से केवल ग्रहण करना ही परिग्रह नहीं है, अपितु ममता-मूर्च्छापूर्वक या आसक्तिपूर्वक ग्रहण करना परिग्रह है।

अगर वस्तु को ग्रहण करना ही परिग्रह माना जाय तो एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय तक के जीव मनुष्य की अपेक्षा—यहाँ तक कि निर्ग्रन्थ साधु की अपेक्षा भी अल्प परिग्रही या अपरिग्रही माने जाने चाहिए। क्योंकि चींटी, कुत्ता, बिल्ली, भेड़, गिलहरी, कौए, मछली, कबूतर एवं मोर, गधा आदि तिर्यञ्चों के पास अपने शरीर के सिवाय और क्या है? वे तो बिलकुल नग्न हैं। दिगम्बर मुनि के पास तो मोरपिच्छी, कमण्डलु आदि मिल जाएँगे, मगर उनके पास तो वे भी नहीं हैं। दूसरी तरफ एक चक्रवर्ती है, जो लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति का स्वामी है। बताइए, किसके पास परिग्रह नहीं है और किसके पास ज्यादा है?

ममत्व का त्याग न तो तिर्यञ्चों ने किया है और न चक्रवर्ती ने, अतः दोनों ही जगह परिग्रह है।

एक तरफ एक भिखारी है, जिसके तन पर फटे वस्त्र हैं, उसने कोई त्याग-प्रत्याख्यान या परिग्रहपरिमाण नहीं किया है, दूसरी तरफ आनन्द श्रावक है, जो १२ करोड़ स्वर्णमुद्राओं का स्वामी था, किन्तु उसने त्याग, प्रत्याख्यान और परिग्रहपरिमाण कर लिया था। इसलिए भिखारी, जिसने कि परिग्रह-परिमाणव्रत द्वारा संसार भर के परिग्रह के प्रति ममत्व नहीं हटाया, सीमित नहीं किया, वह अधिक परिग्रही है, जबकि आनन्द श्रावक परिग्रह की सीमा कर लेने के कारण अल्पपरिग्रही था। आनन्द श्रावक ने सब कुछ होते हुए भी परिग्रह की वृत्ति ही छोड़ दी, उसकी सीमा कर ली, परिग्रह-परिमाण के द्वारा सिन्धु समान असीम परिग्रह को बिन्दु में सीमित कर लिया।

निर्ग्रन्थ मुनि तो परिग्रह का पूर्णतया त्याग कर देने के कारण, जो भी धर्मोपकरण रखते हैं या आहारादि ग्रहण करते हैं उन पर उनकी कोई ममता मूर्च्छा या आसक्ति नहीं होती। इसलिए संयम निर्वाहार्थ अल्पतम वस्तु (उपधि) शरीर, कर्म आदि को ग्रहण करते हुए भी निष्परिग्रही हैं।

इसीलिए भगवान महावीर वस्तु को परिग्रह न बताकर वस्तु के प्रति ममत्व को परिग्रह बताते हैं। फिर वह वस्तु विद्यमान हो या न हो, अन्त-

---

१. "जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥" —दशवैकालिक

मूल्य हो या बहुमूल्य हो, थोड़ी मात्रा में हो या अधिक मात्रा में हो, छोटी हो या बड़ी हो, जानदार (सचित्त) हो या बेजान (अचित्त) हो; यह तब तक परिग्रहरूप है, जब तक उस पर से ममता, मूर्च्छा, आसक्ति या लालसा दूर न हो।

जो क्रोध, मान, माया, लोभ का उत्पादक है, वही परिग्रह है। पदार्थों के प्रति ममत्व भाव होने से वे पदार्थ भी ममत्वभावपूर्वक ग्रहण किये जाने के कारण परिग्रह हो जाते हैं। जिसके प्रति ममत्वभाव होने से जन्म-मरण की वृद्धि होती है, जो आत्मा का उत्थान रोकता है तथा जो मोक्ष में बाधक है, वह पदार्थ भी परिग्रह है।

परिग्रह भार है

आप जब यात्रा करते हैं और विशेषतः जब पैदल यात्रा करते हैं, तो कम से कम बोझ लेकर चलते हैं, तभी आप अपनी यात्रा सकुशल एवं निश्चिन्त होकर कर सकते हैं। आप चुन-चुनकर वजन में हलकी एवं अल्पमूल्यवान वस्तु ही पदयात्रा में लेंगे क्योंकि भारी-भरकम वस्तु लेकर चलना भी आपके लिए दूभर हो जाता है। साथ ही आप यह भी देखेंगे कि अगर दो कपड़ों से काम चल जाए तो तीन कपड़े नहीं लेने हैं। यही बात श्रावक-जीवन की मोक्ष-यात्रा के सम्बन्ध में समझिए।

आप मोक्ष के यात्री हैं। आप पहले तो उन पदार्थों को छाँटेंगे, और देखेंगे कि जो पदार्थ मोक्ष-यात्रा के लिए बाधक हैं, उसे आप कतई न लेंगे। उसके पश्चात् जो चीजें ग्राह्य है, मोक्ष का मार्ग तय करने में उपादेय या साधक हैं, उनमें से भी आप छांटेंगे कि जिन चीजों के बिना आपका काम चल सकता हो, उन चीजों को नहीं लेंगे। जो वस्तुएँ अत्यन्त उपयोगी हैं, अनिवार्य हैं, भारी भरकम या स्थूल नहीं हैं, उन्हें ही लेकर आपको यात्रा करनी होगी। तभी आप सकुशल एवं निश्चिन्त होकर मोक्ष की यात्रा कर सकेंगे।

श्रावक इस बात का विवेक भी करेगा कि जिन चीजों को उसने अपनी मोक्ष यात्रा में जीवन निर्वाह के लिए रखा है, उनके प्रति भी उसकी आसक्ति या मूर्च्छा भाव न रहे। क्योंकि श्रावक को ध्यान में रखना है कि परिग्रह आत्मा के लिए एक बोझ है, जो उसे आत्मोन्नति के रास्ते में आगे बढ़ने नहीं देता, मोक्ष की ओर जाने में रुकावट डालता है।

परिग्रह की उपमा

प्रश्नव्याकरण सूत्र में परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी है। वहाँ यह बताया गया है कि परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ तृष्णा है। तृष्णा, इच्छा और

लालसा का उत्कट रूप है। हीरे, पन्ने, माणिक्य आदि सभी प्रकार के रत्न, सोना-चांदी आदि बहुमूल्य पदार्थ; पुत्र, पुत्री, पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन दास-दासी आदि द्विपद; घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल, गाय, भैंस, बकरी आदि चतुष्पद; तांगा, रथ, बैलगाड़ी, पालकी, मोटर, स्कूटर आदि वाहन; धान्य आदि भोज्य तथा पानी आदि पेय पदार्थ; वस्त्र, बर्तन, गृहसामग्री, घर, खेत, बाग, खान, ग्राम, नगर, जमीन, नकद सिक्के नोट आदि वस्तुओं के प्रति इच्छा-मूर्च्छा इस परिग्रह रूपी तरु की जड़ है। प्राप्त वस्तु की रक्षा और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की कामना भी परिग्रह तरु का मूल है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, घृणा आदि इस परिग्रह वृक्ष के स्कन्ध है। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा से की गई विविध चिन्ताएँ परिग्रह वृक्ष की शाखाएँ हैं। पांचों इन्द्रियों के विविध कामभोग इस परिग्रह वृक्ष के फल तथा फूल हैं। अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक क्लेश परिग्रह तरु का कम्पन है।

इच्छा और मूर्च्छा

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि ममत्व रूपी परिग्रह की जड़ इच्छा और मूर्च्छा है। वस्तु के प्रति ममत्व भाव एक तो इच्छारूप होता है और दूसरा होता है—मूर्च्छारूप। परन्तु इच्छा होने के तुरंत बाद ही मूर्च्छा का जन्म होता है। जैसे न्यायशास्त्र में व्याप्ति का उदाहरण बताया गया है। जहाँ जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, वैसे ही जहाँ-जहाँ इच्छा है, वहाँ मूर्च्छा भी है और जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ-वहाँ इच्छा तो है ही।

इच्छा, कामना, वाञ्छा, वासना, संज्ञा, कांक्षा, तृष्णा, लालसा, लोलुपता, लोभ आदि मामूली अन्तर को लेकर एकार्थक शब्द हैं। इसी तरह आसक्ति, मोह, मुग्धता, वृद्धि, मूर्च्छा आदि भी लगभग समानार्थक शब्द हैं।

अप्राप्त पदार्थ की आकांक्षा होना, उसके न मिलने पर चिन्तित और मिलने पर हर्षित होना एक प्रकार से इच्छा, कामना या लालसा है। उसी का उत्कृष्टरूप तृष्णा है, जिसमें मनुष्य अपनी इष्ट वस्तु को पाने के लिए तरसता रहता है। जो पदार्थ प्राप्त है, उसकी रक्षा के लिए रात-दिन चिन्तित रहना, रक्षा के लिए प्रयास करना, वह खो न जाय, उसे कोई छीन न ले, नष्ट न कर दे या चुरा न ले, इस प्रकार की आसक्तिपूर्वक मन में भीति होना, उस पदार्थ में रात-दिन आसक्त रहना, तन्मय हो जाना, उसके वियोग में शोक एवं दुःख करना, खाना-पीना, निद्रा आदि सब छोड़ देना उसी को ही जीवन या सर्वस्व मानना मूर्च्छा है।

इस प्रकार इच्छा और मूर्च्छा दोनों का संयुक्त रूप ममत्व है। जहाँ ममत्व है—यह पदार्थ मेरा है, दूसरों का नहीं है, मैं ही इसका स्वामी,

उपभोक्ता और सर्वस्व हूँ, मेरे सिवाय कोई भी इसका उपभोग या उपयोग न करे, इस प्रकार का ममभाव ही—परिग्रह है।

निष्कर्ष यह हुआ कि प्राप्त वस्तुओं की मूर्च्छा और अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा दोनों ही प्रकार की बातें परिग्रह के दायरे में आती हैं।

अपरिग्रही कौन ?

प्रश्न यह है कि जो चीज प्राप्त ही नहीं है, उसका कोई त्याग करता है तो उसने क्या त्याग किया ? त्याग तो प्राप्त वस्तु का होना चाहिए न ? परन्तु ऐसी बात नहीं है, अगर श्रावक अप्राप्त वस्तुओं का त्याग या परिमाण नहीं करता है तो उसे सारे संसार का परिग्रह लगेगा। जैसे—एक भिखारी है, उसके पास सिवाय एक फटे कपड़े के और कोई वस्त नहीं है, किन्तु उसने उन अप्राप्त वस्तुओं की चाह नहीं छोड़ी है, परिग्रह की वृत्ति का त्याग नहीं किया है, तो समझना चाहिए कि उसकी इच्छा या मूर्च्छा अभी तक (जब तक परिग्रह की मर्यादा या त्याग नहीं करता है, तब तक) सारे जगत के पदार्थों के प्रति है। यद्यपि उसके न तो इन्द्र के जितना वैभव है और न ही चक्रवर्ती जितनी ऋद्धि है, फिर भी वह भिखारी उनसे कम परिग्रही नहीं है। क्योंकि उसने परिग्रह (आस्रव) के द्वार बंद नहीं किये। हो सकता है, उसके पास एक भी स्त्री न हो, लेकिन उसने परस्त्रीसेवन का त्याग नहीं किया है, या स्वस्त्री न होने पर भी, सर्वस्त्री सेवन का त्याग नहीं किया है तो वह संसार भर की स्त्रियों का परिग्रही है।

जैनसिद्धान्त की इस बात को न समझने वाले और ऊपर-ऊपर तैरने वाले लोग प्रायः भ्रम में रहते हैं। वे बाहर से वस्तु न रखने वाले, किन्तु परिग्रह के अत्यागी को अपरिग्रही समझ बैठते हैं और आनन्द श्रमणोपासक जैसे परिग्रहपरिमाणव्रती किन्तु करोड़ों का वैभव रखने वाले को परिग्रही समझते हैं।

आनन्द ने भगवान महावीर से जब परिग्रहपरिमाणव्रत स्वीकार किया, तब अपनी प्राप्त सम्पत्ति या सामग्री में से कुछ भी कम नहीं किया, उतनी की उतनी सम्पत्ति रखी, उतनी की उतनी सामग्री रखी और उतना ही गोधन रखा। केवल अप्राप्त वस्तुओं का ही उसने त्याग किया। आनन्द कोई साधारण व्यक्ति नहीं था, कि बिना सोचे-समझे इस पगडंडी पर आया हो और उसे परिग्रहपरिमाणव्रत दिलाने वाले भी साक्षात् भगवान महावीर थे। अतः इसी में से सिद्धान्त निकला कि वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है, वस्तु (प्राप्त हो या अप्राप्त) के प्रति इच्छा-आकांक्षा या मूर्च्छा ही परिग्रह है। जिस प्रकार वस्तु पास में हो या न हो, किन्तु उस (अप्राप्त) की

प्राप्त करने की इच्छा होती है, वह परिग्रह है, उसी प्रकार प्राप्त की रक्षा करने, सहेज या संग्रह करने की इच्छा-मूर्च्छा होती है, वह भी परिग्रह है। तात्पर्य यह है कि जहाँ इच्छा-मूर्च्छा है, वहाँ वस्तु हो या न हो, परिग्रह है।

अब प्रश्न यह है कि साधु ज्ञानप्राप्ति के लिए पुस्तकें रखता है, संयम-पालन के लिए रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि रखता है, परिवार के रूप में शिष्य-शिष्या रखता है, नये श्राविक-श्राविकाएँ भी बनाता है, वह परिग्रही है या नहीं?

जैन सिद्धान्त कहता है, सभी दर्शनों के साधु संन्यासियों की लगभग ऐसी ही मान्यता है कि साधु-संन्यासी कुछ आवश्यक सामग्री रखता तो है, लेकिन वह परिग्रही नहीं है; जबकि इन्हीं चीजों को गृहस्थ रखता है तो वह परिग्रही है; बशर्ते कि उक्त गृहस्थ ने उन चीजों का त्याग न किया हो।

गृहस्थ के पास उसके लड़के-लड़की हैं तो वह परिग्रह है, किन्तु साधु के पास शिष्य-शिष्या, श्रावक-श्राविका है तो वह परिग्रह नहीं है। भगवान् महावीर के पास १४००० साधु और ३६००० साध्वियाँ थी। इसी प्रकार लाखों श्रावक-श्राविकाएँ थीं, फिर भी वे परिग्रही बिलकुल न थे, उनका वह परिवार परिग्रह नहीं कहलाया और गृहस्थ के पास तीन-चार पुत्र हो गए हैं, तो वह परिग्रह वृद्धि कहलाता है।

आपके जाति-उपजाति, सम्प्रदाय आदि हैं वे परिग्रह में परिगणित होते हैं और साधुओं के गच्छ, सम्प्रदाय, संघाटक आदि होने पर भी परिग्रह नहीं है।

आखिर क्या बात है कि गृहस्थ के पास वे चीजें होने पर परिग्रह में गिनी जाती हैं और साधु के पास वे चीजें परिग्रह में नहीं मानी जाती?

वास्तव में, मुख्य बात तो आसक्ति (मूर्च्छा-ममता) का होना, न होना है। साधु के पास वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरण, शिष्य या गच्छ-सम्प्रदाय होने पर भी उसका उनके प्रति ममत्व न होने के कारण वह अपरिग्रही कहलाता है। अगर साधु में इनके प्रति ममता-मूर्च्छा है, मोह या आसक्ति है तो वह भी परिग्रही बन जाएगा। चाहे वह किसी भी उच्च माने जाने वाले सम्प्रदाय का हो, चाहे वह कितनी ही क्रियाकाण्डी हो या उसने किसी भी तथाकथित उच्च सम्प्रदाय का वेष धारण कर रखा हो।

इसलिए वस्तु के अभाव में भी व्यक्ति यदि उसकी इच्छा रखता है, उसे पाने की धुन सवार होती है, तमन्ना जागती है, तो समझ लें कि वह परिग्रह के दल-दल में फँसा हुआ है।

मान लीजिए, दो व्यक्ति हैं, उनके पास एक सरीखा सामान है। संयोगवश वे जिस सराय में ठहरे थे, वहाँ से उन दोनों का सामान कोई उठा कर ले गया। अब दोनों में से एक व्यक्ति तो अपने सामान को न पाकर बहुत ही शोकमग्न हो जाता है, उसके कारण रोता है, हायतोबा मचाता है। जबकि दूसरा व्यक्ति इष्ट वस्तुओं के वियोग अवश्यंभावी जानकर समभाव से सह लेता है। मन में यही विचार करता है कि क्या हुआ, चली गई तो ? मेरे साथ उनका केवल संयोगसम्बन्ध था। वे मेरी नहीं थीं, उनका इतने दिन का ही मेरे साथ संयोग था। अतः उनके लिए चिन्ता-शोक करना व्यर्थ है।

याज्ञवल्क्य ऋषि की सभा में बहुत-से ऋषि श्रोता के रूप में उपस्थित थे। लेकिन राजर्षि जनक अभी तक सभा में नहीं आए थे, इसलिए याज्ञवल्क्य ऋषि प्रवचन प्रारम्भ नहीं कर रहे थे। इसे देखकर सहजानन्दजी, विरजानन्दजी, परमानन्दजी, आदि ऋषि आपस में कानाफूसी करने लगे कि "ये ऋषि होकर सत्ताधारियों के गुलाम बने हुए हैं, यही कारण है कि हम इतने ऋषि उपस्थित हैं, फिर भी ये प्रवचन प्रारम्भ नहीं करते।"

ऋषि इन ऋषियों की वृत्ति को भांप गए। कुछ ही देर में राजर्षि जनक आ गए। ऋषि याज्ञवल्क्य ने प्रवचन प्रारम्भ किया। इसी बीच सहसा मिथिला में आग की लपटें उठती दिखाई दी। श्रोता ऋषियों में खलबली मच गई। कोई कहने लगा—'मेरी कुटिया जल जाएगी,' कोई कहने लगा-'मेरा कमण्डलु वहाँ पड़ा है, वह भस्म हो जाएगा।' कोई अपनी लंगोटी की चिन्ता करने लगा। इस प्रकार एक-एक करके सब ऋषि वहाँ से खिसककर मिथिला की ओर भागे। याज्ञवल्क्य ऋषि ने राजा जनक से कहा—"राजन् ! आप भी जाइए न। आपकी मिथिला जल रही है, इसमें आपका राजमहल और अंतःपुर भी सही सलामत नहीं रह सकता।"

राजर्षि जनक बोले—"ऋषिवर ! मिथिला के जल जाने से मेरा कुछ भी नहीं जलता। मेरा अपना तो इनमें से कोई पदार्थ नहीं है। मेरी आत्मा मेरे पास है, वह न तो जल सकती है, न विनष्ट हो सकती है। मेरी आत्मा का इन सांसारिक पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं।"

उधर वे ऋषि आग की लपटें देखकर अपनी कुटिया पर अपने-अपने रखे हुए सामान को बचाने के लिए पहुँचे थे। उन्हें निकट जाने पर बिल्कुल आग नहीं दिखाई दी। बड़ा पश्चात्ताप हुआ, उन्हें अपनी प्रवृत्ति पर। कहने लगे—प्रवचन भी छोड़ा और यहाँ भी अग्नि का भ्रम प्रतीत हुआ। सभी ऋषि एक-एक करके पुनः याज्ञवल्क्य ऋषि की सभा में पहुँचे। सभी ऋषिगण लज्जित होकर नीचा मुँह करके बैठ गए। जब सभा पुनः श्रोताओं

याज्ञवल्क्य ने पूछा—"क्यों विरजानन्दजी ! आपकी लंगोटी तो सुरक्षित रही न ? सहजानन्दजी ! आपका कमण्डलु, जला तो नहीं ?" यों सबको पूछा। सब चुप ! काटो तो खून नहीं !

अब याज्ञवल्क्यजी उन्हें जनक राजा के आने से पहले प्रवचन प्रारम्भ न करने का कारण समझाते हुए कहा कि "आपकी तो लंगोटी या कमण्डलु आदि मामूली और एकाध वस्तु थी, लेकिन जनकजी के तो सारा राजमहल, अन्तःपुर तथा समस्त शाही सामग्री थी, फिर भी वे यहाँ से उठे नहीं, बल्कि मेरे कहने पर भी उन्होंने मिथिला के जलने का तनिक भी विचार नहीं किया। कहिए, निःस्पृही एवं ममत्वत्यागी श्रोता हैं आप या जनक राजा ?"

अब तो सब ऋषियों को जनक राजा का लोहा मानना पड़ा और अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी।

अतः अपरिग्रही वही है जो वस्तु रहने पर भी उनके प्रति निर्ममत्व रहता है, किसी भी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध नहीं मानता। जो श्रावक है, वह भी मर्यादा में रखे हुए पदार्थों से भी ममत्व नहीं करता, अपितु निर्ममत्व रहता है। न तो उनकी प्राप्ति से वह प्रसन्न होता है और न उनके वियोग से दुःखित होता है। राजा जनक मिथिला का राज्य करता हुआ भी अपनी नगरी, राजमहल, अन्तःपुर आदि के जलने की चिन्ता नहीं करता, इसलिए वह राज्य करता हुआ एवं महलों में रहता हुआ भी अन्दर से अनासक्त था, जबकि उक्त ऋषियों के पास थोड़ी-सी वस्तुएँ थीं, वे कोई बहुमूल्य भी न थीं, फिर भी उन पर ममता (आसक्ति) के कारण वे व्याकुल हो उठे थे।

इसलिए वस्तु के कम या ज्यादा रहने से कोई अल्प-परिग्रही या अधिक परिग्रही नहीं हो जाता, किन्तु ममत्व (इच्छा-मूर्च्छा) के कम या अधिक कर देने से व्यक्ति अल्प या अधिक परिग्रही कहलाता है। वस्तु के प्रति ममत्व नहीं होना या न करना ही अपरिग्रह है।

परिग्रह के नये-नये रूप

जड़ पदार्थों पर इच्छा, आसक्ति या मूर्च्छा रखना तो परिग्रह है ही; परन्तु परिग्रह के और भी नये-नये रूप हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है।

अपने माने हुए सम्प्रदाय के प्रति ममता-मूर्च्छा रखना और उसके मोह में अन्धे होकर उसकी प्रशंसा करना, उसकी गलत बातों का समर्थन करना, तथा दूसरे सम्प्रदाय से घृणा एवं द्वेष करना, यह एक भयंकर परिग्रह है।

कई साधु-साध्वियों के लिए सम्प्रदाय और उसकी घातक कुरीतियाँ या गलत परम्पराएँ भी परिग्रहरूप हो जाती हैं। यह मेरी सम्प्रदाय या परम्परा है, चाहे वह ठीक न भी हो, तब भी उसकी रक्षा एवं वृद्धि के लिए मैं प्रयत्न करूंगा। किसी के द्वारा कहीं मेरे सम्प्रदाय की क्षति न हो जाए, मुझे अपनी रूढ़ि-परम्परा का त्याग न करना पड़े, इत्यादि प्रकार की सम्प्रदायासक्ति भी एक प्रकार का परिग्रह है, फिर यह आसक्ति चाहे साधु-साध्वी में हो या श्रावक श्राविका में हों, और किसी भी व्यक्ति में हो, वह परिग्रह के दोष से दूषित है।

मेरा सम्प्रदाय ही सबसे श्रेष्ठ है। मेरे सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर ही कल्याण हो सकता है, इस प्रकार का पक्षपात करना भी परिग्रह है। हमारे सम्प्रदाय के साधु ही सच्चे साधु हैं, वे ही उत्कृष्ट और क्रियापात्र हैं। इस प्रकार की आसक्ति भी परिग्रह है।

सम्प्रदाय चाहे अनेक रहें, किन्तु साम्प्रदायिकता, कट्टरता एवं सम्प्रदायान्धता, सम्प्रदाय-मोह आदि नहीं होने चाहिए।

भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष—अनेकान्त दृष्टि से देखने का उपदेश दिया है। किन्तु दर्शन (मत) मोही, मतान्ध मनुष्य अपने-अपने मत को ही सच्चा, अच्छा और मोक्ष-पथ बताते हैं, दूसरों के मत को मिथ्या, बुरा और नरक-पथ बताते हैं। दूसरे मतों को भी उनकी दृष्टि से देखने की अमृतमयी अनेकान्त दृष्टि को वे भूल जाते हैं। यही मतमोह एक प्रकार का परिग्रह है।

इसी प्रकार जाति, राष्ट्र, या प्रान्त, भाषा आदि के नाम पर अन्धता या कट्टरता, आसक्ति या मूर्च्छा भी परिग्रह का ही रूप है। जातीयता, प्रान्तीयता के नाम पर अन्धा मोह मनुष्य को पागल बना देता है। वह अपने अहिंसा आदि धर्म को भी ऐसे समय तिलांजलि दे देता है।

राष्ट्रान्धता भी भयंकर परिग्रह है। द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त और जातीयता के नाम पर हिन्दुस्तान पाकिस्तान के विभाजन होने के समय हिन्दू-मुसलमानों में भयंकर रक्तपात हुआ। एक दूसरे के खून की होली खेली गई। अतः जातीयता का परिग्रह भी कम खतरनाक नहीं है। इसी प्रकार जातिमद में अन्धा होकर मनुष्य दूसरे मानव का तिरस्कार कर देता है, यह जातिमद भी मोहवश होने के कारण परिग्रह है।

राष्ट्र के प्रति अन्धभक्ति भी गृद्धि या मोह का रूप है, जिसमें बड़े-बड़े कुकर्म राष्ट्रसेवा के नाम पर होते रहे हैं और आज भी होते हैं।

राष्ट्रान्धता जब जागती है तो दूसरे राष्ट्र के निवासियों पर अत्याचार किया जाता है, उन्हें खदेड़ा जाता है। बांगलादेश में राष्ट्रान्धता के वशीभूत होकर पश्चिमी पाकिस्तान के बर्बर मानव-राक्षसों ने वहाँ की निर्दोष जनता पर कितना कहर बरपाया था? मानवता भी इन कुकृत्यों को सुनकर लज्जित हो उठती है।

इसी प्रकार प्रान्तीयता भी भयंकर परिग्रह है। अपने माने हुए प्रान्त में जब दूसरे प्रान्त के लोग बस जाते हैं, अपना व्यापार धन्धा करते हैं तो प्रान्तान्ध लोग उन्हें खदेड़ने की कोशिश करते हैं, उन्हें परेशान करते हैं, अपने द्वारा उपार्जित धन भी नहीं ले जाने देते।

परन्तु श्रावक में न तो जातीयता होनी चाहिए, न प्रान्तीयता और न ही राष्ट्रान्धता। ये तीनों ही डाइनें हैं, भयंकर परिग्रह हैं। किसी के पास अर्थ का परिग्रह न हो, किन्तु अगर साम्प्रदायिकता, राष्ट्रान्धता, जातीयता, प्रान्तीयता आदि का परिग्रह है तो वह अपना आत्म-कल्याण कदापि नहीं कर सकता।

कई लोग धन आदि का परिग्रह छोड़ देना तो आसान समझते हैं, लेकिन अपनी प्रसिद्धि, बड़ाई, प्रशंसा, सम्मान आदि की आसक्ति, नामवरी या नामना की कामना इतनी जबर्दस्त होती है कि उसके लिए बहुत उखाड़-पछाड़ करते हैं।

यह कहावत भी प्रसिद्ध है—

> कंचन तजिबो सरल है, सरल त्रिया को नेह।
> मान, बड़ाई, ईर्ष्या, दुर्लभ तजिबो येह॥

सच है, कई लोग सोना, स्त्री आदि का तो त्याग कर देते हैं, किन्तु तुलसीदासजी के कथनानुसार उनसे सम्मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि एवं ईर्ष्या को छोड़ना बड़ा ही दुष्कर है। लेकिन याद रखिये, जब तक इन चीजों के प्रति इच्छा-मूर्च्छा नहीं छूटेगी, तब तक वे परिग्रह से मुक्त नहीं हो सकते।

कुछ साधु-साध्वी भी अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि के लिए बहुत लालायित रहते हैं। वे येन-केन-प्रकारेण तिकड़मबाजी करके भी प्रसिद्धि और यशोलिप्सा की पूर्ति करते हैं। इसके लिए वे स्वयं ही, अथवा अपने अनुयायियों या सरकारी अधिकारियों को प्रेरित करके उनके द्वारा कोई उपाधि प्राप्त करके अपने नाम के साथ उसे जोड़ देते हैं। अपना नाम समाचार-पत्रों में या पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते हैं, अथवा इसके लिए अन्य कार्य भी करते हैं। लेकिन वास्तव में देखा जाय तो प्रसिद्धि की कामना

इसी प्रकार शिष्य-शिष्या या अनुयायी बढ़ाने की लालसा भी चाहे वह साधु-साध्वी में हो, या श्रावक-श्राविका में हो, एक प्रकार का परिग्रह ही है। क्योंकि शिष्य-शिष्या की इच्छा-मूर्च्छा इतनी प्रबल होती है कि उसके लिए ऐसे-ऐसे कृत्य भी हो जाते हैं, जो शायद सम्मान की इच्छा-मूर्च्छा रखने वाले गृहस्थ से भी न होते होंगे।

यद्यपि शिष्य-शिष्या की या अनुयायी भक्तों की इच्छा-मूर्च्छा रखने वाले साधु प्रकट रूप में तो प्रायः ऐसा ही कहते सुने जाते हैं कि यह कार्य हम अपने धर्म एवं सम्प्रदाय की वृद्धि या जाहोजलाली के लिए करते हैं। परन्तु गहराई से सोचने पर स्वयं ज्ञात हो जायेगा कि धर्मवृद्धि या धर्म की उन्नति का तो प्रायः बहाना होता है, गृहस्थों को सन्तानलिप्सा (पुत्रैषणा) की तरह उन्हें भी शिष्य-शिष्यालिप्सा (इच्छा-मूर्च्छा) रहती है।

हाँ, कुछ महात्मा ऐसे निःस्पृह भी होते हैं, जिनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी प्रकार की इच्छा-मूर्च्छा से प्रेरित होकर शिष्य-शिष्या या अनुयायी बनाते हैं, वे एकमात्र धर्मवृद्धि की भावना से प्रेरित होकर ही ऐसा करते हैं।

कई गृहस्थ श्रावक-श्राविका भी धर्मलाभ या धर्मदलाली के तीव्र आवेश से प्रेरित होकर अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों या साधु-साध्वियों की वृद्धि की इच्छा-मूर्च्छा करते हैं और कई अनुचित कृत्य भी करते हैं। यह भी परिग्रह का एक रूप है।

कई साधु-साध्वियों को अपने भक्तों के धन के खर्च की चिन्ता रहती है, वे अपने भक्तों की धनरक्षा का प्रयत्न करते हैं। यह भी एक प्रकार से परिग्रह का रूप है।

तात्पर्य यह है कि जब तक ये और इस प्रकार के परिग्रह विद्यमान हैं, तब तक कोई भी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका अपरिग्रह व्रत का सम्यक् परिपालन नहीं कर सकता। अपरिग्रहव्रत या परिग्रहपरिमाणव्रत का सम्यक् परिपालन तो तभी हो सकता है जब हृदय में किसी प्रकार की चाह न रहे, किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व न हो, किसी भी प्रकार की तमन्ना या अपेक्षा न हो, न किसी प्रकार की चिन्ता हो या भीति हो, साथ ही अपने व्रत में जो मर्यादित वस्तुएँ रखी हैं, उन पर भी ममत्वभाव न रखते हुए धर्माचरण ही किया जाय। जिन शरीर आदि से वह धर्मपालन करता है, उन सबके लिए भी यह भावना (मनोरथ) करे कि वह दिन धन्य होगा, जिस दिन मैं शरीर आदि सबसे ममत्व न रखूँगा, न आहार-पानी के प्रति

ममत्व रखूंगा, एक दिन आहार-पानी भी छोड़ दूंगा, सभी प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाऊंगा।

मतलब यह है कि परिग्रहवृत्ति से मुक्त होने के लिए साधक के हृदय में न इहलौकिक किसी पदार्थ की इच्छा-मूर्च्छा होनी चाहिए न संयोग-वियोग में सुख-दुःख होना चाहिए।

दिमाग में विचारों को भीड़ इकट्ठी हो जाना या निरर्थक विचार ठूँस लेना भी परिग्रह है। कभी-कभी मनुष्य को किसी विचार से इतनी अधिक ममता हो जाती है कि वह गलत होने पर भी उस विचार को सही सिद्ध करने के लिए तमाम युक्ति-प्रयुक्तियाँ खोजता रहता है। कभी-कभी विचारों का जमघट दिमाग में हो जाने से मनुष्य की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। वह जो कुछ भी पढ़ता है, उसे वह सभी यथार्थ लगता है। अपने लिए कौन-सी बात उपादेय या उपयोगी है, इसे वह निश्चित नहीं कर पाता। इसी बुद्धि-विमूढ़ता के कारण यथार्थ निर्णय करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। न नई श्रद्धा दृढ़ हो पाती है, और न पुरानी श्रद्धा ही स्थिर रह पाती है। इस प्रकार का निरर्थक ज्ञान संयम—विवेकहीन संयम प्रायः पागलपन है। ऐसा निरर्थक ज्ञान जीवन विकास में या सत्यशोधन में कोई भी लाभ नहीं पहुँचाता। ऐसा ज्ञान प्रायः लौकिक होता है। ऐसे ज्ञान से सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती।

अतः ज्ञान संचय में भी अपरिग्रहवृत्ति से काम लेना चाहिए। जिस ज्ञान से स्वयं अपनी आत्मा को तथा सारे समूह को सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त हो, वही ज्ञान प्राप्त किया जाय। चित्तविभ्रम पैदा करने वाला विचारसंग्रह संग्रहणी रोग के समान ज्ञान का अजीर्ण है अतः वह भयावह है।

सच्चा ज्ञान ही अपरिग्रह

जहाँ सच्चा ज्ञान होता है, वहाँ आसक्ति टिक नहीं सकती। करुणा उस ज्ञान की छाया की तरह रहती है। जगत् का दुःख अपना दुःख समझ कर उस दुःख या विषमता को दूर करने की इच्छा सक्रिय होती है। ज्ञानी-पुरुष निश्चिन्त हो रात-दिन स्व-परकल्याण में संलग्न रहते हैं। ऐसे ज्ञानीजनों के प्रत्यक्ष जीवन से ज्ञान की व्याख्या प्रगट होती है। जहाँ ऐसा सच्चा ज्ञान होता है वहाँ [illegible] दम्भ, [illegible] [illegible]रता आदि दुर्गुण नहीं होते है। ज्ञानी में [illegible] से [illegible] [illegible]नता, निर्दम्भता, सरलता, नम्रता आदि [illegible] के लक्षण हैं।

[illegible]

मिलता है। जहाँ ये सद्गुण प्रगट न हों, समझना चाहिए, वहाँ केवल बौद्धिक ज्ञान (जानकारी) है। वह जीवन को ईश्वराभिमुख तथा सद्गुणों से सम्पन्न करने वाला आत्मिक ज्ञान नहीं होता। अतः श्रेयस्कामी कल्याण-मार्गपथिक को ऐसे बौद्धिक ज्ञान के संचय को परिग्रह समझकर उसे दूर से ही हटा देना चाहिए।

इस प्रकार मैंने आपको परिग्रह के अनेक प्रकार बताये। परिग्रह के इतने ही प्रकार हैं, यह बात नहीं है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से रूप हैं, जैसे किसी सुन्दर वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, ज्ञान की विशालता के लिए सभी प्रकार की जानकारी की लालसा, कहाँ क्या हो रहा है यह जानने की उत्कंठा, अपने को विश्वकोष (जानकारी का एनसाइक्लोपीडिया) के रूप में प्रसिद्ध करने के लिए सभी प्रकार का ज्ञान दिमाग में ठसाने की अभिलाषा, वाग्मी, उपदेश-पटु आदि कहलाने की भावना आदि-आदि।

ये सभी और ऐसे ही अनेक रूप जिनमें इस प्रकार की अभिलाषा, इच्छा, मूर्च्छा, आसक्ति प्रगट होती है, वे सभी परिग्रह हैं और आत्मा की शुभ-शुद्ध प्रवृत्ति के घातक हैं। अतः सभी त्याज्य हैं।

अब मैं आपको लोक प्रचलित परिग्रह के प्रमुख रूप असंतोष के बारे में बताती हूँ।

असन्तोष का असुर, तीन रूपों में

मनुष्य के जीवन में अपरिग्रह वृत्ति को आग लगाने वाली तीन आसुरी वृत्तियाँ—एषणाएँ आसुरी रूप बना कर आती हैं। वे हैं—वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा। ये असन्तोष के तीन रूप हैं। इन्हीं से परिग्रह अधिकाधिक भड़कता जाता है। इन तीनों को एषणा इसलिए कहते हैं कि ये तीनों क्रमशः धन, वासना और अहंता की तृष्णा अधिकाधिक एवं अमर्यादित रूप से भड़का देती हैं।

गृहस्थ जीवन में उचित प्रयत्न के साथ उचित अवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन कमाने का निषेध भगवान महावीर ने नहीं किया है। क्योंकि गृहस्थ जीवन का व्यवहार शरीर और परिवार का निर्वाह धन के बिना चल नहीं सकता। किन्तु कामोपभोग भी गृहस्थ के लिए अमर्यादित हो जाय तो वह भी अनुचित है। अपने आत्मगौरव के अनुरूप निःस्वार्थ भाव से दूसरों की यथाशक्ति सेवा और सदाचार से पूर्ण जीवन यापन करने से जो कुछ यश अनायास ही मिलता हो, तो उसे गृहस्थ ग्रहण कर सकता है; लेकिन यश के पीछे मुट्ठी बाँधकर दौड़ लगाना, उसी के सपने देखना

अनुचित है। इन तीनों का सर्वथा त्याग साधु-जीवन में तो होना आवश्यक है ही; किन्तु गृहस्थ-जीवन में भी मर्यादा छोड़कर उच्छृंखलता एवं निरंकुशता से इन तीनों को अपनाना खतरे से खाली नहीं है।

प्रथम दुष्प्रवृत्ति : विश्लेषण

आज धन के लिए प्रायः प्रत्येक गृहस्थ में होड़-सी लगी है। हर व्यक्ति धन-पिपासु बनकर अपना-अपना उपाय अजमाता रहता है। गृहस्थों ही नहीं तथाकथित धर्मध्वजी सन्त-महन्तों से लेकर जेबकतरे और चोर-डाकू तक इस अत्यधिक धनाकांक्षा के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। क्या सचमुच धन की इतनी आवश्यकता है? क्या दरिद्रता इस सीमा तक पहुँच गई है कि मनुष्य को निरन्तर धन के लिए उद्विग्न हुए बिना काम ही न चले? इस वसुन्धरा पर अगणित सामग्री है कि सभी मनुष्य मिल-बांटकर अपना गुजारा कर सकते हैं, शान्ति और आनन्द के साथ हिल-मिलकर प्रेमपूर्वक अपना जीवन यापन करते हुए लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अग्रसर हो सकते है।

रोटी, कपड़ा और मकान तथा शिक्षा और चिकित्सा—ये गृहस्थ-जीवन की प्रधान भौतिक आवश्यकताएँ हैं। ये आवश्यकताएँ इतनी छोटी और थोड़ी हैं कि बड़ी आसानी से थोड़े ही समय में इनको उचित न्यायपूर्ण श्रम द्वारा गरीब कहे जाने वाले मनुष्य भी पूर्ण कर लेते हैं, और सन्तोष-पूर्वक हँसते-खेलते जीवन व्यतीत करते रहते हैं। इसके विपरीत वे लोग हैं, जिनके यहाँ सब कुछ होते हुए भी दिन-रात उन्हें धन की हाय-हाय लगी रहती है। जिनका एक क्षण भी अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता और परेशानी से रहित नहीं बीतता। वस्तुतः ऐसे असन्तोषी लोग बड़े दयनीय हैं। बेचारे न तो जीवन का लक्ष्य समझते हैं, न मूल्य और न ही इससे उचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे अभागे मानवों की दुर्दशा पर ज्ञानीजनों को तरस आती है, जिनके बाहर और भीतर रात-दिन असन्तोष की आग ही आग जलती रहती है। लाखों-करोड़ों का धन, बहुमूल्य साधन सामग्री एवं गगनचुम्बी प्रासाद तथा आरामदेह पलंग होते हुए भी वे बेचारे सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर पाते।

इस असन्तोष से गरीब और अमीर के बीच में काफी अन्तर हो जाता है। एक जगह अति संग्रह के कारण ऊँची मीनार खड़ी हो जाती है तो दूसरी जगह अभाव के कारण उतना ही गहरा गड्ढा बन जाता है। यदि स्वेच्छा से अमीर लोग अपनी आवश्यकताओं में कमी कर दें, अपनी महत्वाकांक्षाओं में काट-छांट कर लें और व्यर्थ का खर्चा बिलकुल

करके उस जमा धन का उपयोग कर्तव्य बुद्धि से अभावग्रस्त लोगों के हित में करें तो यह विषमता की खाई चौड़ी होने से रोकी जा सकती है। अन्यथा यदि कुछ लोग अपने पर आवश्यकता से अधिक खर्च करेंगे, अधिक जमा करने की प्रवृत्ति में लगे रहेंगे तो उनके कार्यों से दूसरों को उतना ही अभावग्रस्त रहना पड़ेगा। इसलिए धनसंग्रह, विलासिता एवं अमीरी की महत्वाकांक्षाएँ छोड़कर मध्यवर्ती मर्यादित आवश्यकताओं से युक्त जीवन यापन करना प्रारम्भ कर दें तो विषमता और उससे उत्पन्न असन्तोष बहुत हद तक समाप्त हो सकते हैं।

वर्तमान अर्थतंत्र के कारण यदि किसी व्यक्ति की आय अधिक है तो उसका कर्तव्य है कि वह समाज को पुनः दान आदि के रूप में लौटाये। इससे परिग्रह की सीमा भी हो जाएगी और अपरिग्रह वृत्ति से जीवन यापन करने का अभ्यास भी होगा। अगर अधिक आय वाले व्यक्ति अपने धन पर से ममता नहीं उतारेंगे और संग्रह ही संग्रह करते चले जाएँगे तो समाज में विषमता, अशान्ति, अव्यवस्था, ईर्ष्या एवं अन्याय-अनीति का दौर चलेगा, जिसे रोकना हर एक के बश की बात नहीं होगी। इसलिए धनिक लोग चाहें तो परिग्रहपरिमाणव्रत अपनाकर विवेक, उदारता और न्याय की दृष्टि से अपने धन में से अभावग्रस्तों का संविभाग करके महानता का परिचय दे सकते हैं। अमीरी के स्वप्नों का नशा यदि लोगों के मस्तिष्कों में से उतर जाए तो सारा समाज स्वस्थ, संतुलित, सुविकसित होकर शान्तिमय जीवन-यापन कर सकता है।

आज अधिकांश लोग विलासितापूर्ण आदतों को अपनी दैनिक आवश्यकता मान बैठे हैं और अंधाधुन्ध खर्चे बढ़ाये चले जा रहे हैं। हर व्यक्ति अपने से अधिक अमीर की नकल करके स्वयं भी अमीर कहलाने की मृगतृष्णा में भटक रहा है। अमीरों जैसे ठाठ-बाट बनाने में लोग परिणाम का विचार नहीं करते। अगर किसी के पास धन अधिक है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह धन को स्वयं ही विलासिता के कामों में, फैशन-परस्ती में खर्च करे। फैशन का भूत लोगों पर इसलिए सवार है कि वे बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनकर बड़े आदमी समझे जाने लगें लेकिन वे भूल जाते हैं, कि सादगी, मितव्ययिता और सामान्य श्रेणी का जीवन यापन करने में जो शान्ति प्राप्त हो सकती है, वह अमीरी ठाठ-बाट एवं व्यर्थ के कार्यों में खर्च करने से नहीं होती। संतोष धारण करके मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और खर्चों को सीमित करले, तथा सादगी को अपनी जीवन नीति बना कर मितव्ययिता को अपनाकर तृष्णा को निरर्थक अनुभव करने लगे तो इस

वित्तैषणा रोगों से छुटकारा पा सकता है। वित्तैषणा को अस्वाभाविक, अनैतिक, एवं अवांछनीय समझने पर ही वास्तविक सुख-शान्ति का आस्वादन किया जा सकता है।

जिसे निरन्तर धन कमाने की धुन लगी रहती है, उसके लिए सज्जनता और सदाचार का जीवन बिता सकना लगभग असम्भव है। अवसर आते ही उसका अनीति के मार्ग पर फिसल पड़ना निश्चित सा है। यही असभ्यता है। अतः सभ्य समाज रचना के लिए वित्तैषणा को अपना पहला शत्रु मानते हुए सादगी, सीमितता और सज्जनता की वृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धन को ही एकमात्र जीवन का लक्ष्य नहीं मानना चाहिए। जब धन साधन न रहकर साध्य बन जाता है तो उसकी तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य बड़े-बड़े दुष्कर्म करने लगते हैं। तृष्णा अनेक दुष्कर्मों की जननी है। बेईमानी, ठगी, डकैती, रिश्वतखोरी आदि जो अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं, उनके मूल में गरीबी नहीं, धन की तृष्णा होती है। निर्वाह-योग्य उचित आवश्यकताएँ पूर्ण करने योग्य धन के उपार्जन और संग्रह करने की सीमा बाँधकर मनुष्य सुख-शान्ति से जीवन-यापन कर सकता है, अपने चरित्र को संभाले रख सकता है। पुत्र-पुत्रियों को उत्तराधिकार में मुफ्त का माल देकर उन्हें निकम्मे बनाने से बचाये रख सकता है। साथ ही जनसाधारण में असन्तोष एवं ईर्ष्या की आग भड़काने से रोक सकता है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि धन की असीम तृष्णा में संलग्न व्यक्ति इन सब बुराइयों के लिए जिम्मेदार है। यह तृष्णा उसके लिए ही नहीं, सारे समाज के लिए घातक सिद्ध होती है।

दूसरी दुष्प्रवृत्ति : पुत्रैषणा

पुत्रैषणा का स्थूल अर्थ सन्तानोत्पत्ति की कामना है और इसका विवेकहीन रूप है कामवासना। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश लोग कामविकार से ग्रस्त होकर बिना विचारे सन्तानोत्पादन का महत्तर उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर ले बैठते हैं। उसके वहन करने योग्य पूर्ण क्षमता न होने पर अपने लिए ही नही, सारे समाज के लिए संकट उत्पन्न कर देते हैं। सन्तान भी वे प्रायः कुसंस्कारी पैदा करते है, जिनसे देश और समाज को कोई लाभ नहीं। यों ही बेकार की फौज इकट्ठी करके वे जाने-अनजाने अन्तसंकट और नैतिक संकट उत्पन्न करते हैं। इस बढती हुई मँहगाई और घटती हुई आमदनी में अन्धाधुन्ध बच्चे पैदा करते जाना, किन्तु उनको चत शिक्षा-दीक्षा, पोषण आदि का ठीक प्रबन्ध न कर पाना,

और राष्ट्रीय सभी दृष्टियों

सन्तानोत्पत्ति के नाम पर इस प्रकार कामवासना को भड़काने से शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। सामाजिक श्रेष्ठता तो पहले धूल में मिल जाती है। फिर सन्तानोत्पत्ति के लिए कामवासना भड़काने वाला शृंगार प्रसाधन किया जाता है। किन्तु कामवासना एक बार भड़क जाने पर उसमे उत्तरोत्तर अशान्ति ही बढ़ती है, धन के असन्तोष की तरह वासनात्मक असन्तोष भी मानसिक शान्ति नष्ट कर देता है। सामाजिक जीवन की स्वस्थता भी चौपट कर देता है।

पुत्रैषणा से कितने-कितने भयंकर अनर्थ (अन्धविश्वास, अन्धाधुन्ध व्यय आदि) पैदा होते हैं; आए दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं। पुत्रैषणा के कारण बढ़ी हुई कामवासना की दुष्प्रवृत्ति ने समाज का मानसिक ढांचा, सन्तुलन, स्वास्थ्य, नैतिक दृष्टिकोण, पारिवारिक व्यवस्था, दाम्पत्य प्रेम, वैयक्तिक पवित्रता आदि सबको अस्त-व्यस्त कर दिया है।

पुत्रैषणा का त्याग करने के लिए सर्वोत्तम उपाय तो यह है कि पति-पत्नी दोनों ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए देशसेवा, समाजसेवा को ही पुत्रसेवा मानकर सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करें, अपने दृष्टिकोण में से वासना को हटाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करके समाज एवं राष्ट्र को सुन्दर संस्कार प्रदान करें, स्व-परकल्याण करें।

किन्तु यह तो एक आदर्श स्थिति है। इतनी उच्च भूमिका पर प्रत्येक गृहस्थ नहीं पहुँच पाता। साधारण गृहस्थों का मनोबल इतना उच्च कोटि का होना भी संभव नहीं है। ऐसी उच्चतम ब्रह्मचर्य साधना तो विजय सेठ और विजया सेठानी जैसे दृढ़ मनोबली साधक ही कर सकते हैं।

विजय सेठ और विजया सेठानी की कथा यद्यपि ब्रह्मचर्य साधना से संबन्धित है और यहाँ प्रसंग अपरिग्रह का चल रहा है फिर भी मैं इसे सुनाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूँ। मैं अति संक्षेप में सुनाती हूँ। कथा का सार इतना ही है कि विजया ने गुरुणी जी से कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य पालन का नियम लिया और विजय ने शुक्ल पक्ष में। संयोग से दोनों का परस्पर विवाह हो गया। मिलन रात्रि को जब इन दोनों को इस व्रत की बात मालूम हुई तो साथ रहते हुए, एक शय्या पर सोते हुए भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का नियम कर लिया। असिधारा व्रत पालने लगे। उनके इस निर्णय और नियम-पालन की जानकारी इनके अतिरिक्त और किसी को भी न थी। जब भेद खुला तो उन्होंने संयम ले लिया और उसी भव से मुक्त हो गये।

ऐसा प्रेरक और उत्कृष्ट था विजय सेठ और विजया सेठानी ब्रह्मचर्य-पालन जिसकी समता अन्यत्र मिलना कठिन है।

आप लोग यदि ऐसा न कर सकें तो कम से कम इतना तो करें ही कि धर्म से मर्यादित काम का ही सेवन करें, विषयों में अधिक न फँसे, अपने शरीर और मस्तिष्कीय शक्ति की हानि न करें, पुत्रैषणा में न फँसे, एक-दो कुल-दीपक से ही संतोष करें, उनका लालन-पालन सही ढंग से करें, उचित शिक्षा दें और उन्हें समाज के योग्य नागरिक बना दें। साथ ही आपके पास जितने भी समय, साधन और शक्ति अवशेष बचे, उससे समाज का उपकार करें, स्व-परकल्याण करें।

तीसरी प्रवृत्ति : लोकैषणा

तीसरी एषणा है—लोकैषणा। आज अधिकांश समाज लोकैषणा के चक्कर में पड़ा हुआ है। वाहवाही लूटने, प्रसिद्धि प्राप्त करने, अपनी प्रशंसा सुनने या प्रतिष्ठा पाने अथवा यशोकीर्ति फैलाने की जो मानसिक भूख है, उसे लोकैषणा कहते हैं।

मामूली गृहस्थ से लेकर साधु-सन्तों तक में लोकैषणा का यह रोग फैला हुआ है। जैसे गृहस्थ लोग अमीरी का रौब गांठकर फिजूलखर्ची और आडम्बर द्वारा अपना बड़प्पन सिद्ध करके प्रशंसा और प्रसिद्धि पाने में लगे रहते हैं, वैसे ही तथाकथित सन्त-महन्त भी बड़े-बड़े जलसे और परिषदों का आयोजन करवाकर, प्रीतिभोजों या सामूहिक भोजों का विशेष आयोजन करवाकर, अन्य आडम्बर रचकर लोगों को आकर्षित करके प्रशंसा और प्रसिद्धि पाने के लिए लाखों रुपयों का धुंआ उड़ा देते हैं। अपनी अमीरी का प्रदर्शन करके प्रतिष्ठा या बड़प्पन पाने के लिए बहुमूल्य कपड़ों गहनों में हजारों रुपये खर्च कर देना लोकैषणा से भी बढ़कर और अधिक भयंकर अहंकारैषणा है। कुछ संत-महंतों का अहंकार तो इतना बढ़ा हुआ है कि अपने को भगवान कहलवाते हैं, आचार्य अथवा गुरु कहने वालों से नाराज हो जाते हैं। आज के युग में ऐसे दम्भी—अहंकारी कितने ही भगवान मौजूद हैं।

विवाह-शादियों में लोग अन्धे होकर, पैसे की होली इसलिए जलाते हैं कि दर्शक लोग इन पैसे की होली फूंकने वालों को अमीर कहकर उनकी प्रशंसा करें। मृत्युभोज या अन्य बड़ी-बड़ी दावतों के मूल में वाहवाही लूटने की मनोवृत्ति छिपी रहती है। कई लोग लोकैषणा के मतवाले बनकर इतना अधिक खर्च करते हैं कि वे कर्जदार बन जाते हैं और बाद में उन्हें अपने आवश्यक कार्यों को चलाने में भी कठिनाई अनुभव होने लगती है। लेकिन उन विवेकहीनों को *मालूम होना चाहिए कि यह तो घर फूंककर*

तमाशा देखने के समान है। वर्तमान युग में अमीरी या ठाठ-बाट का प्रदर्शन बड़प्पन का चिन्ह नहीं रहा, अब उसे घृणा, ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखा जाने लगा है। इसके अतिरिक्त ऐसे पराकांक्षी लोगों की पदाधिकारी बनने और महत्त्व पाने की हविस ने सार्वजनिक संगठनों को भी ईर्ष्या और कलह के केन्द्र बना दिया है। हर कोई बड़प्पन व पद चाहता है और जिसे एक बार पद मिल गया वह उसे सदा के लिए छाती से चिपकाए बैठा रहता है, छोड़ना ही नहीं चाहता। इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में भी स्वयं सत्ता हथियाने और प्रतिद्वन्द्वी को गिराने के अनेक हथकंडे अजमाए जाते हैं।

यदि मनुष्य सच्चे मन से सेवा करने में उतनी शक्ति खर्च करता तो आत्मा को शान्ति भी मिलती। परन्तु लोकैषणा के लिए कुचक्र रचने वाले ऐसा कब सोचते हैं। अकसर प्रशंसा के उद्देश्य से थोड़ा-सा सेवा कार्य करने वाले, लम्बे-चौड़े लेक्चर झाड़ने वाले, बढ़-चढ़कर बातें बनाने वाले लोग अपने हथकंडों से बड़प्पन पाने में सफल भी हो जाते हैं। अयोग्य आदमी भी अंधाधुन्ध पैसा खर्च करके पद या सत्ता पर आ जाते हैं। लेकिन ऐसे लोग सामाजिक जीवन के लिए बहुत बड़े खतरे हैं।

थोड़ा-सा दान देकर अपने नाम की तख्ती लगवाने या अपनी प्रसिद्धि अखबारों में छपवाने की लोकैषणा की प्रवृत्ति भी निम्नस्तर की है, अहंकारप्रधान है। ये सब लोकैषणा की प्रवृत्तियाँ परिग्रह की मूल स्रोत हैं। अत: इस स्वयं के परिग्रह से दूर रहकर सुख-शान्ति से जीवन यापन करने की इच्छा वालों को इन तीनों एषणा-पिशाचिनियों से दूर रहना चाहिए। ये एषणाएँ जीवन में असन्तोष को उभारती हैं और मनुष्य को बेचैन बना देती हैं।

सद्गृहस्थ श्रावक को इन तीनों एषणाओं से बचते हुए आनन्द, उल्लास, प्रेम और सन्तोषपूर्वक परिग्रहपरिमाणव्रत का पालन करना चाहिए। उसे अध्यात्मवाद की तुला पर तौलकर देखना चाहिए कि इन तीनों एषणाओं के चक्कर में पड़कर मैं अपनी आत्मा का विकास करने के बदले कितना ह्रास—कितना पतन कर रहा हूँ। सन्तोष का अमृत पीने-पिलाने वाले श्रावक को अपने आत्म-सन्तोष के लिए श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से सत्कार्य करते रहना चाहिए।

परिग्रह के दो मुख्य रूप : आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह

इन सब बातों पर विचार करने से एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि परिग्रह केवल बाह्य वस्तुओं पर मूर्च्छा से ही नहीं होता, वह आन्तरिक

विकारों से भी होता है। और सच पूछें तो परिग्रह मूलतः आन्तरिक विकारों में ही जन्म लेता है, बाह्य पदार्थों की ओर तो उसकी प्रवृत्ति बाद में होती है।

व्यवहार में यद्यपि बाह्य परिग्रह की ही प्रधानता है, किन्तु देखा जाय तो बाह्य परिग्रह का मूल आधार आभ्यन्तर परिग्रह है। जब तक आभ्यन्तर परिग्रह प्रभावी रूप से विद्यमान रहता है तब तक व्यक्ति न तो परिग्रह को त्याज्य मानता है और न ही परिग्रह के स्वरूप और उससे होने वाली हानि के विषय में सोचना-समझना चाहता है। जब मिथ्यात्वरूप आभ्यन्तर परिग्रह विनष्ट होगा, तथा दूसरे आभ्यन्तर परिग्रह भी कुछ न कुछ अंशों में कम होंगे तभी आत्मा को परिग्रह का स्वरूप, विचार या कार्य समझने की रुचि जागेगी। उसके पश्चात् चारित्र मोहनीय कर्म का जितने अंशों में क्षय, क्षयोपशम या उपशम होगा उतने ही अंशों में वह परिग्रह का त्याग या मर्यादा कर सकेगा।

यों देखा जाय तो बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों परिग्रहों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिए बाह्य परिग्रह को छोड़ने से पहले आभ्यन्तर परिग्रह कुछ न कुछ अंशों में छोड़ना अनिवार्य है, अन्यथा बाह्य परिग्रह छोड़ने की रुचि बिलकुल नहीं होगी।

आभ्यन्तर परिग्रह का उत्पत्ति स्थान

आभ्यन्तर परिग्रह का उत्पत्ति स्थान मन है। जो मूर्च्छा, आसक्ति, इच्छा आदि मन-मस्तिष्क या हृदय से सम्बन्धित हों और विचार रूप हों, उन्हें सबको आभ्यन्तर परिग्रह माना गया है। आभ्यन्तर परिग्रह बाहर से पकड़ में नहीं आता, सर्वज्ञ या प्रत्यक्षज्ञानी के सिवाय कोई भी व्यक्ति सहसा यह जान नहीं सकता कि अमुक व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह से लिप्त है अथवा नहीं। आभ्यन्तर का सम्बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि से है। जब मनुष्य आभ्यन्तर परिग्रह से युक्त होता है तब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि आन्तरिक विचार रूप पदार्थों से भी ममत्व होता है और बाह्य दृश्यमान जड़-चेतन पदार्थों से भी होता है। आभ्यन्तर परिग्रह विचार रूप होता है।

आभ्यन्तर परिग्रह के भेद

आभ्यन्तर परिग्रह मुख्यतया १४ प्रकार का है[1]—मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्यादि छह नोकषाय, क्रोधादि चार कषाय यों कुल मिलाकर १४ आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) होते हैं। जैनागमों में इनके स्वरूप और भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध

१. मिथ्यात्व वेदरागास्तथैव, हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था: ॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

में बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। सारा का सारा विस्तार करने की न तो यहाँ गुंजाइश है और न ही इतना समय है। यहाँ मैं संक्षेप में इन पर प्रकाश डालूँगी।

मिथ्यात्व परिग्रह सबसे अधिक घातक और भयंकर है। इसके प्रभाव से जीव मिथ्यात्वमोहनीय कर्मोदयवश आत्मभाव को विस्मृत हो जाता है और परभाव यानी पौद्गलिक (भौतिक) भाव में ही रमण करता है। बाहर से स्थूल रूप से तो तत्वों की इतनी सूक्ष्म व्याख्या करता है कि सहसा कोई कह नहीं सकता कि इसकी श्रद्धा विपरीत है, किन्तु हृदय में वह विपरीत या ऊटपटांग विचार रखता है। सर्वज्ञ आप्तपुरुष के वचनों पर हृदय से विश्वास नहीं करता, मगर वचन से कहता है कि मैं वीतरागपुरुष पर श्रद्धा करता हूँ। अनेकान्तवाद को संशयवाद समझ कर कभी-कभी एकान्त प्ररूपणा भी कर देता है। इसके पाँच उत्तर भेद हैं—(१) सांशयिक (२) वैनयिक (३) एकान्त (४) अज्ञान और (५) विपरीत।

तीन वेद भी आभ्यन्तर परिग्रह में हैं, वे इसलिए कि आत्मा अपने निर्विकारी असली स्वरूप को भूलकर कामवासनामय विकार के प्रवाह में बह जाता है, और स्त्रीत्व, पुरुषत्व या नपुंसकत्व का वेदन करने लगता है। वास्तव में उस अवस्था को वेद कहा जाता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद ये तीन प्रकार के वेद हैं।

इसके पश्चात् ६ नोकषाय भी परिग्रह हैं। वे ये हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा। जहाँ किसी के संयोग का वियोग से अथवा पौद्गलिक लाभ से कुतूहल या हँसी-मजाक करने की वृत्ति पैदा हो उसे हास्य कहते हैं। किसी इष्ट पदार्थ के संयोग से हर्ष एवं अनिष्ट पदार्थ के संयोग से विषाद पैदा होना रति-अरति है। किसी अप्रिय पदार्थ या अनिष्ट परिस्थिति को देखकर या उसकी आशंका कर के डरना भयपरिग्रह है। किसी प्रिय मनोज्ञ पदार्थ के वियोग से घबराना या दुःखित होना ,शोक कहलाता है। इसी प्रकार किसी अरुचिकर प्रतिकूल या अमनोज्ञ वस्तु से घृणा या नफरत होना, जुगुप्सा कहलाता है।

ये छहों आभ्यन्तर परिग्रह इसलिए हैं कि ये आत्मा के स्वभाव से भिन्न भावों को ममत्वपूर्वक ग्रहण करते हैं।

इसके बाद चार कषाय परिग्रह हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका स्वरूप आप जानते ही हैं, इनके भेद-प्रभेद भी जानते हैं।

आभ्यन्तर परिग्रह में क्रोधादि चार कषायों को इसलिए बताया गया है कि मनुष्य क्रोधादि के वश होकर अपना स्वरूप भूलकर क्रोध, मान आदि परभावों को इच्छा-मूर्च्छापूर्वक ग्रहण करता है, उनमें तन्मय हो जाता है।

इन चारों कषायों में लोभ का दायरा बहुत बड़ा है। इसमें आसक्ति, ममता, मूर्च्छा, इच्छा, वासना, लालसा, लोलुपता, गृद्धि आदि सबका समावेश हो जाता है।

बाह्य परिग्रह के भेद

इसके पश्चात् बाह्य परिग्रह का नम्बर आता है। बाह्य परिग्रह के जड़ और चेतन ये दो भेद हैं। शास्त्रकारों ने जड़-चेतनात्मक बाह्य परिग्रह के दो भेदों को छः भागों में विभक्त कर दिया है। जितने भी बाह्य परिग्रह दिखाई देते हैं, जिन पदार्थों से आत्मा को ममत्व होता है, उन्हें छः कोटियों या श्रेणियों में बांटा गया है। वे इस प्रकार हैं—

१. धन और धान्य के प्रति परिग्रह।
२. क्षेत्र और वास्तु (मकानादि) का परिग्रह।
३. द्विपद और चतुष्पद का परिग्रह।
४. हिरण्य (चांदी) और सुवर्ण (सोने) का परिग्रह।
५. कुप्य (ताम्बा, कांसी) आदि अन्य धातुओं का परिग्रह।
६. घर के अन्य सामान का परिग्रह।

इन छह प्रकार के पदार्थों में से जिस-जिस पदार्थ के प्रति मनुष्य की इच्छा ममता-मूर्च्छा होती है, उस पदार्थ की गणना बाह्य परिग्रह में हो जाती है।

प्रश्न होता है, पहले कहा गया था कि पदार्थ परिग्रह नहीं है, फिर बाह्य परिग्रह में पदार्थ को परिग्रह क्यों कहा गया? वास्तव में पदार्थ अपने आप में परिग्रह नहीं है किन्तु पदार्थ के प्रति जो ममत्व होता है वही परिग्रह है। इस कारण जिस पदार्थ के प्रति ममत्व होता है, औपचारिक रूप से वह पदार्थ भी परिग्रह माना जाता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि जब तक किसी पदार्थ पर ममत्व भाव नहीं होता, तब तक वह परिग्रह नहीं कहलाता मगर जब किसी पदार्थ के प्रति ममत्वभाव होता है, तभी वह पदार्थ परिग्रह की कोटि में परिगणित होता है।

इस जगत् में असंख्यात जीव हैं। और उन जीवों की रुचियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। एक ही योनि के जीवों की रुचि में ही अन्तर रहता है, तो विभिन्न योनियों के जीवों की रुचि में भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसलिए समस्त जीवों को किसी एक ही पदार्थ के प्रति ममत्व-मूर्च्छा नहीं होती, किसी को किसी वस्तु के प्रति ममता है, तो किसी को किसी अन्य वस्तु प्रति है। यह भी संभव है कि किसी एक ही वस्तु के प्रति अनेक जीवों

या व्यक्तियों का ममत्व हो। किन्तु संसार के समस्त जीवों की ममता किसी एक ही पदार्थ तक सीमित नहीं रहती। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न गतियों के जीवों की पृथक-पृथक वस्तु के प्रति ममता होती है। जैसे नारकीय जीव जिस वस्तु के प्रति ममता करते हैं, देवलोक के जीव उससे भिन्न वस्तु के प्रति ममत्ववान होते हैं। किस गति और योनि के जीवों की किन-किन पदार्थों के प्रति ममत्व होता है ? यह सभी जीवों के विषय में बताना कठिन तो है ही, अनावश्यक भी है। यहाँ तो सिर्फ मनुष्यों की रुचि को देखते हुए उनका ममत्व किन-किन खास चीजों के प्रति होता है, उसका वर्गीकरण छः भागों में कर दिया गया है।

वैसे तो जड़ और चेतन इन दो भेदों में दुनिया भर के बाह्य परिग्रह आ जाते हैं, अथवा जगत् के मोह-ममत्व को दृष्टिगत रखकर विचार करें तो 'कनक' और 'कामिनी' इन दो भेदों के अन्तर्गत सभी पदार्थ आ जाते हैं। विश्व में कनक अर्थात् सोने के प्रति तथा कामिनी यानी स्त्री के प्रति अत्यधिक ममत्व देखा जाता है। इन्हीं दो के प्रति अत्यधिक आसक्ति होती है। इसलिए कनक के अन्तर्गत समस्त जड़ पदार्थ और कामिनी के अन्तर्गत समस्त चेतन पदार्थ उपलक्षण से आ जाते है।

व्यवहार में बाह्य परिग्रह की ही सीमा (मर्यादा) करने का विधान शास्त्रकारों ने श्रावकों के लिए बताया है। क्योंकि बाह्य पदार्थों के प्रति इच्छा-मूर्च्छा (ममता) के कारण मनुष्य उनका अधिकाधिक संग्रह और फिर आसक्ति करता जाता है, इसलिए बाह्य परिग्रह को लक्ष्य बनाकर वर्णन किया गया है किन्तु बाह्य परिग्रह की मर्यादा में सीमा से बाहर वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा-ममता त्याग का भाव अन्तर्निहित है।

दान की भावना से संग्रह भी परिग्रह

कई लोग यह प्रश्न भी उपस्थित करते हैं कि अगर हम दान के लिए धन अधिक संग्रह करके रखें या संग्रह करने की इच्छा करें तो वह परिग्रह कैसे हो जाएगा ? जैन धर्म इस विषय में साधक को एक दृष्टि देता है, वह यह है कि दान के लिए परिग्रह बढ़ाने या अधिक संग्रह करने की बुद्धि भी उचित नहीं, क्योंकि आगे चलकर उस धन पर मूर्च्छा हो जाएगी और यदि उस धन आदि पर मूर्च्छा न भी हुई तो अपनी नामना, प्रसिद्धि या किसी स्वार्थपूर्ति की मूर्च्छा होगी। अतः वह परिग्रह हो जाएगी। दान के लिए संग्रह करने की इच्छा भी तो इच्छा ही है और इच्छा होने के कारण परिग्रह है। फिर वही इच्छा आगे चलकर प्रसिद्धि की आकांक्षा बन

जायेगी। इस दृष्टि से उसे परिग्रह मानकर निषिद्ध और अनुचित बताया है।

इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए मैं भगवान महावीर के काल की एक घटना सुना रही हूँ।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में नन्दन मणिहार की जीवन गाथा अंकित की गई है। वहाँ यह बताया गया है कि नन्दन मणिहार भगवान महावीर से श्रावक के बारह व्रत धारण करके श्रमणोपासक बना। किन्तु कुछ समय बाद सुगुरुओं का सम्पर्क तथा उपदेश छूट जाने से और कुगुरुओं के सम्पर्क के कारण वह सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो गया। फिर भी धर्म के प्रति श्रद्धा के कारण एक बार उसने त्रिउपवासयुक्त चौविहार पौषध किया। उसी पौषध के दौरान तीव्र पिपासा से व्याकुल होकर राजगृही के बाहर उसने एक सुन्दर वापिका (बावड़ी) बनवाने का विचार किया। पौषधव्रत पारित करके उसने राजा श्रेणिक से बावड़ी के लिए आज्ञा प्राप्त की। लाखों रुपये खर्च करके एक मनोरम चतुष्कोण बावड़ी बनाई। साथ ही उसकी चारों दिशाओं में क्रमशः चित्रशाला, भोजनशाला, चिकित्साशाला एवं आलंकारिकशाला बनवाई। यह सब करना उचित था। बावड़ी पर वायु-सेवनार्थ तथा अन्य अनेक प्रयोजनों से आने वाले पथिक, रुग्ण, याचक, पिपासु, स्नानार्थी आदि लोग ऐसी सुन्दर व्यवस्था से लाभान्वित होते। अतः वे नन्दन मणिहार की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे, उसे धन्य-धन्य कहने लगे। पथिकों आदि के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर नन्द मणिहार मन ही मन फूला नहीं समाता था। उसका अहंकार अंदर ही अंदर गरजने लगा। रात-दिन अपनी प्रशंसा सुनकर नन्दन मणिहार अपने आपको बहुत बड़ा दानी और महान् व्यक्ति समझने लगा। उसने वस्तुस्थिति का विचार नहीं किया। बावड़ी पर उसकी आसक्ति गहरी हो गई।

इसी दौरान पूर्वकालिक किन्हीं अशुभकर्मों के उदय से उसके शरीर में सोलह भयंकर रोग उत्पन्न हो गए। बहुत-से उपचार करवाए, परन्तु रोग नष्ट न हुए। शरीर पर आसक्ति तो थी ही, अपनी बनाई हुई बावड़ी पर भी उसकी गाढ़ आसक्ति थी। मरते समय अपनी बनाई हुई बावड़ी में आसक्ति के कारण ही वह उसी बावड़ी में मेंढक बना।[1]

---

[1] तएणं से णंदे सोलसेहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे नंदा पोक्खरिणीए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे तिरिक्खजोणिएहिं निबद्धाउए बद्धपएसिए अट्टदुहट्ट वसट्टे कालमासे कालं किच्चा पोक्खरिणीए दद्दुरे कुच्छिसि दद्दुरत्ताए उववन्ने।

—ज्ञातासूत्र अ. १३

मेंढक बना हुआ नंद अपनी बावड़ी पर स्नान आदि अनेक प्रयोजनों से आने वाले लोगों के मुँह से अपनी भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर विचार करने लगा कि 'ऐसे प्रशंसासूचक शब्द मैंने पहले भी कई बार सुने हैं, ये शब्द परिचित लगते हैं।' यों ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान हो गया। पूर्वजन्म के घटना चित्र उसके स्मृति पट पर करवटें लेने लगे। अपने पूर्वजन्म में श्रावक व्रतों का ग्रहण, तथा पौषधव्रत भंग, बावड़ी पर आसक्ति आदि के कारण विराधक होकर मेंढक योनि में जन्म इत्यादि बातों के स्मरण के कारण उसे पश्चात्ताप हुआ, अपने दुष्कृत्यों की निन्दा करके उसने पुनः अपने आप ही पूर्ववत् १२ व्रत धारण कर लिए और यावज्जीवन बेले-बेले पारणा करने का संकल्प कर लिया। इस प्रकार वह आत्मशुद्धि करने लगा।

एक दिन लोगों के मुँह से राजगृही में भगवान् महावीर का पदार्पण सुनकर उनके दर्शन करने की उत्कण्ठा जागी। उत्सुकतापूर्वक वहाँ से फुदकता हुआ गुणशीलक चैत्य की ओर बढ़ा जा रहा था कि अचानक श्रेणिक राजा के घोड़े की टाप के नीचे कुचला गया। बेचारा मेंढक भगवान् के दर्शन न कर सका, किन्तु उसने वहीं एक कोने में जाकर आमरण अनशन कर लिया। शुभभावों में मृत्यु होने के कारण वह दुर्दुरावतंसक सौधर्म वैमानिक देवरूप में उत्पन्न हुआ।

मित्रो ! इस घटना से यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि नन्दन मणिहार जैसे दानी को भी दान के साथ अभिमान एवं प्रसिद्धि की लालसा रूप परिग्रह के कारण मेंढक का जन्म ग्रहण करना पड़ा, अतः दान के साथ अभिमान या प्रसिद्धि की कामना परिग्रह को न्यौता देने वाली है।

दान के लिए धन-संग्रह करने की लालसा (इच्छा) कीचड़ में पैर डालने के समान है। अनीति आदि से धन कमाकर फिर उस धन-संग्रह में से कुछ दान करने की इच्छा बुद्धिमानी नहीं है, न यह सच्चा दान ही है। बुद्धिमानी इसी में है कि पहले से ही धन-संग्रह रूपी कीचड़ में अपना पैर ही न डाला जाय ?

जैन आगम उत्तराध्ययन में नमि राजर्षि से इन्द्र कहता है कि "पहले श्रमण-ब्राह्मणों को दान देकर फिर अपरिग्रहव्रती भिक्षु बनो।"

इसके उत्तर में नमि राजर्षि कहते हैं—"जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख

गायों का दान करता है, उससे भी एक त्यागी और संयमी बनने वाला साधु कुछ भी न देता हुआ भी श्रेष्ठ है।"[1]

अभिप्राय यह है कि दान के लिए परिग्रह एकत्रित करने की अपेक्षा, एकत्रित परिग्रह का त्याग करना अधिक श्रेयस्कर है।

आवश्यकता से अधिक अनासक्तिपूर्वक संग्रह भी परिग्रह

कई लोग कहा करते हैं कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करने से कई बार किसी को दान देकर पुण्यलाभ या मुनिराज को वस्त्र, पात्र, धर्मोपकरण आदि देकर धर्मलाभ कमाया जा सकता है। परन्तु जैन धर्म इस विषय में स्पष्ट कहता है कि श्रावक ने जो मर्यादा रखी है, उसमें यदि संग्रह आवश्यकता से अधिक हो जाय तो श्रावक उसका दान करता जाए, सीमा का उल्लंघन कदापि न करे। उस वस्तु या धन पर वह ममत्व रखकर सांप की तरह कुण्डली मार कर न बैठ जाए, जिससे कि तो किसी को खाने दे, न खर्च करने दे, न स्वयं खाए या खर्चे। यद्यपि ऐसे व्यक्ति के धन-संग्रह करने से दूसरों को कोई खास पीड़ा या हानि नहीं होती, किन्तु जो व्यक्ति इस प्रकार से धन-संग्रह करके न तो दूसरों को देता है, न खाता है, न सुख से खाने देता है, उसके लिए वह धन महापरिग्रह रूप हो जाता है। वह घोर आसक्ति का कारण बन जाता है, और उस व्यक्ति के आत्म-विकास को रोक देता है।

राजगृही का मम्मण सेठ भी ऐसी ही संकुचित कृपण प्रकृति का था। धन तो उसके पास ९९ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ था, परन्तु न तो वह सुख से खाता-पीता, न खाने देता और न ही सुकृत्य में खर्च करता। बल्कि उसने सोने के दो बैल बनवाकर उसमें हीरे-पन्ने के रूप में सारी सम्पत्ति एकत्र करके एक बैल पर जड़वा दी। अब उसे यह चिन्ता हुई कि मेरा यह दूसरा बैल रत्नजटित नहीं है इसे भी ऐसा ही बनाऊँ। इसी तृष्णा की अन्धी दौड़ में वह प्रतिदिन कठोर श्रम करता था। एक दिन घनघोर वर्षा बरस रही थी, बिजलियाँ चमक रही थीं, तब भी नदी में बहती हुई लकड़ियाँ लाने के लिए गया। वापिस लौटते समय उसके इस कठोर श्रम को देखकर राजा श्रेणिक की रानी चेलणा को बड़ी दया आई। उसने राजा से ऐसे मनुष्य पर दया करके उसे सुखी बनाने के लिए कहा। मगध सम्राट ने प्रातःकाल ही अपना

---

1. जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेओ, अदितस्स वि किंचण॥

—उत्तरा० अ० ९

सेवक भेजकर उसे बुलाया। राजा ने जब मम्मण से उसके दुःख सम्बन्ध में पूछा तो उसने कहा—"मैं बहुत चिन्तित हूँ, अपने एक बैल के लिए।" राजा ने बहुत-से बैल बताए किन्तु उसे एक भी पसंद नहीं आया, बल्कि वह राजा को अपने घर ले गया बैल बताने के लिए। राजा को रत्नजटित स्वर्णमय बैल बताते हुए उसने कहा—"मुझे इसी की जोड़ी का एक बैल चाहिए।"

राजा तो उस बैल को देखकर स्तब्ध हो गए। अतः उन्होंने कहा—"ऐसा बैल तो मेरे पास नहीं है, न ही मैं तुम्हें ऐसा बैल दे सकता हूँ।"

इतना धन होते हुए मम्मण सेठ एकमात्र संग्रह एवं संग्रह-लालसा के कारण महापरिग्रही होने कारण नरक का मेहमान बना। अतः एकत्रित धन भी एक जगह जमा हो जाने से दूसरों को वस्तुप्राप्ति में अन्तराय डालता है। धन तो सदा बहता रहना चाहिए। तभी वह जनहितकारी हो सकता है।

भगवान महावीर का श्रावक के लिए संकेत है कि धन पर सांप बनकर ममत्वभाव से मत बैठो, अपितु उसे अपने पास असमत्व भाव से रखते हुए दूसरों को भी समय पर दो। फुटबाल का खिलाड़ी फुटबाल को सिर्फ अपने पास रखले तो उसका खेल नहीं हो सकता; फुटबाल को अपने पास से दूसरे के पास फेंकना ही पड़ता है। इसी प्रकार धन का खेल भी खेलते रहो, तभी जीवन में अनासक्ति और सुख-शान्ति का साम्राज्य हो सकता है।

दानवीर भामाशाह जैन श्रावक थे। वे मेवाड़ के महामंत्री थे। जब उन्होंने देखा कि स्वतन्त्रता के पुजारी महाराणा प्रताप मेवाड़ छोड़कर निराश होकर सिन्ध प्रदेश की ओर जा रहे हैं। उनके पास जो भी धन या सैन्य था, सब समाप्त हो चला था। मातृभूमि मेवाड़ की रक्षा के लिए वे बिना सेना व बिना धन एवं साधन के क्या करते? अतः मातृभूमि की रक्षा कर सकने में अपनी असमर्थता देख, कम से कम स्वरक्षा के लिए ही वे अन्यत्र प्रस्थान कर रहे थे। तभी भामाशाह ने पीछे से आर्त्त भरी आवाज लगाई—"महाराणाजी! आप मेवाड़भूमि को अनाथ छोड़कर कहाँ पधार रहे हैं?"

"मंत्रिवर! क्या करूँ? देश-रक्षा के सभी साधन समाप्त हो गए हैं। न सेना है, न धन! किस बूते पर मैं लड़कर मातृभूमि की रक्षा करूँ।" महाराणा ने डबडबाई हुई आँखों से कहा।

भामाशाह की आँखें भी गीली हो गईं उन्होंने निकट आकर हाथ जोड़ कर साथ में लाई हुई धन की थैलियाँ महाराणा के चरणों में रखते हुए कहा—"अन्नदाता! यह लीजिए धन! १२ वर्ष तक २५ हजार सेना को

वेतन, भोजन आदि के निर्वाह के लिए यह धन पर्याप्त होगा। आप वापस पधारिये और नये सिरे से पुनः मेवाड़ भूमि की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करिए। मेरे पास आपके पूर्वजों की दी हुई यह सारी सम्पत्ति है। इससे बढ़कर इस सम्पत्ति का और क्या सदुपयोग होगा? मातृभूमि से उपार्जित धन का एक-एक पैसा उसी की रक्षा में लगा दीजिए। अगर मातृभूमि शत्रु के हाथों में चली गई तो क्या उस दिन यह सम्पत्ति मेरे पास रह सकेगी? अतः इस धन को आप स्वीकार कीजिए।"

भामाशाह के इस अपूर्व त्याग और देशभक्ति की बातें सुनकर महाराणा का दिल भर आया। वे वापस लौटे और उस सम्पत्ति से एक विशाल सेना तैयार करके मातृभूमि की रक्षा की।

यह है, एकत्रित धन के प्रति समय आने पर *ममत्व-त्याग* का ज्वलन्त उदाहरण।

आप भी सोचिए, समझिए कि परिग्रह क्या है, वह कहाँ-कहाँ, किस-किस रूप में आता है और धन, साधन आदि आपके लिए हैं या आप धन, साधन आदि के लिए हैं? आप धन के गुलाम हैं या स्वामी? इस बात पर से आपके जीवन में परिग्रह-अपरिग्रह का निर्णय हो जाएगा। स्वाभाविक रूप से *द्रव्य बढ़ जाने साथ अगर आपको क्लेश न बढ़ाना हो तो* उस द्रव्य को परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन दुःखियों को साता पहुँचाने में लगाइए। अपने पास जो भी साधन हैं, उनका *त्याग* करने के साथ उपभोग होगा तो वह सम्पत्ति आपके लिए सिर-दर्द नहीं बनेगी। याद रखिये, सम्पत्ति आपकी नहीं है, यह तो मानव समाज की धरोहर है। इसके ट्रस्टी बनकर उपयोग करेंगे तो आप सहजरूप से परिग्रहपरिमाणव्रत का पालन कर सकेंगे। □□

13

जैन दर्शन की अपूर्व देन : स्याद्वाद

सत्य अनन्त है और अनन्त रूप में ही उसके विराट् रूप के दर्शन किये जा सकते हैं, उसे देश-काल व सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। सत्य जब असीम है, तब उसे ससीम बनाया भी कैसे जा सकता है। अनेक रूपात्मक सत्य को अनेक रूपों में ग्रहण करना अनेकान्त है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधारशिला है।

अनेकान्तवाद एक दृष्टि है, एक विचार है। विचार जगत का अनेकान्तवाद जब वाणी में उतरता है, तब वह स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद में स्याद् शब्द का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टिकोण, और वाद शब्द का अर्थ है—सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनों शब्दों से मिलकर बने हुए प्रस्तुत शब्द स्याद्वाद का अर्थ हुआ किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना। स्याद्वाद का अपर नाम अपेक्षावाद भी है, जिसका अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना।

प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हैं, उन सभी धर्मों का यथार्थ परिज्ञान तभी संभव है, जब अपेक्षादृष्टि से विचारा जाए। दर्शनशास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि, तथा लोक-व्यवहार में—स्थूल-सूक्ष्म, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान, छोटा-बड़ा आदि ऐसे अनेक धर्म हैं जो सापेक्षिक हैं। जब हम उन धर्मों में से किसी एक धर्म का कथन करना चाहेंगे, तो अपेक्षा दृष्टि से ही संभव है। क्योंकि कोई भी एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अतः विभिन्न शब्दों के माध्यम से ही विभिन्न धर्मों का प्रतिपादन किया जा सकता है।

अपेक्षा दृष्टि से विश्व के समस्त पदार्थ एक, और अनेक रूप हैं। उनमें एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते हैं, तो दूसरी तरफ अनित्यत्व के। वस्तु के ध्रुव तत्त्व की ओर जब दृष्टि केन्द्रित होती है, तब वस्तु के शाश्वत

सौन्दर्य के संदर्शन होते हैं और उत्तर-गुणों की ओर दृष्टिपात करने पर प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित रूप दिखलाई देता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में—"जब हमारी दृष्टि भेद-गामिनी बनती है, तब वस्तु का परिवर्तित होने वाला रूप सामने आता है, और जब दृष्टि अभेदगामिनी बनती है, तब वस्तु का अखण्ड रूप दृष्टि पथ में आता है।[1] जब हम आत्मा के अभेद रूप का चिन्तन करते हैं, तब अनन्त-अनन्त आत्माओं में एक आत्म-तत्त्व[2] के दर्शन होते हैं, और भेद दृष्टि से चिन्तन करने पर एक ही आत्मा में अनेक पर्याय दिखलायी देती हैं। दार्शनिक शब्दों में "भेद-गामिनी दृष्टि पर्याय-दृष्टि है और अभेद-गामिनी दृष्टि द्रव्यार्थिक दृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि

पर्याय-दृष्टि पदार्थ के प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले रूप को स्वीकार करती है और द्रव्य-दृष्टि नित्य अंश को। पर विश्व व्यवस्था उभय के समन्वय में ही संभव है। आचार्य सिद्धसेन ने एक युवक का रूपक दिया है—एक युवक बचपन से सर्वथा भिन्न भी नहीं है क्योंकि वह बचपन की सुमधुर स्मृतियों में जीता है, और उसके साथ उसका पूर्ण सम्बन्ध भी नहीं है, अतः उसे बालक भी नहीं कह सकते।[3] जीवन की यही भेदाभेद-गामिनी दृष्टि पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को पा सकती है। आत्मा ही नहीं, संसार के समस्त पदार्थ भेदाभेद रूप में अवस्थित हैं। पर्यायदृष्टि से उसमें उत्पत्ति और विनाश प्रारम्भ है, तो द्रव्यदृष्टि से वह सदा सर्वदा ध्रुव है। आचार्य श्री हेमचन्द्र ने पदार्थ का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है—अनित्य प्रदीप और नित्य आकाश दोनों का एक स्वभाव है। पदार्थ मात्र उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है, एक नित्य है, शाश्वत है और दूसरा अनित्य है, यह कहना बुद्धि की विडम्बना है।[4]

दीपक नित्य भी हो सकता है और आकाश अनित्य भी, स
पदार्थ द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं और पर्यायदृष्टि से अनित्य हैं। एक घड़
जाता है। अतः वह अनित्य है पर टुकड़ों में भी मृद्‌द्रव्य अनुगत है।
वह नित्य भी है।

द्रव्य-दृष्टि या पर्याय-दृष्टि दोनों का उद्देश्य वस्तु के यथार्थ स्व
का ज्ञान कराना है। परस्पर विरोधी स्वभावों को भी तत्-तत् अपेक्ष
स्वीकार कराना है। दर्शनशास्त्र के दिवाकर आचार्य सिद्धसेन के श
में—"जितने वचन-पथ हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उ
हीं पर-समय हैं, सभी नय अपनी सीमा में सत्य हैं, पर जब वे दूसरे
असत्य घोषित करते हैं, तब मिथ्या बन जाते हैं, किन्तु अनेकान्तवादी न
के मध्य सम्यक् और मिथ्या की विभेद रेखा नहीं खींचता।" उपाध्या
यशोविजयजी ने लिखा—"सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वे
नहीं करता, वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य से देखता है
जैसे कोई पिता अपने प्यारे पुत्रों को देख रहा हो।"

जैन दर्शन का यह वज्र आघोष है कि प्रत्येक चिन्तन सापेक्ष होना
चाहिए। अनेकान्तवादी सम्यग्दृष्टि है और एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि है।
जिन समस्याओं को एकान्तवादी वर्षों तक नहीं सुलझा सकता, उन
समस्याओं को अनेकान्तवादी एक क्षण में सुलझा देता है। वह मानव को
सर्वतंत्र स्वतंत्र चिन्तन प्रदान करता है। "ही" की कैद से मुक्त कर "भी"
के नन्दन वन में विहार कराता है। विचार-सहिष्णु बनाता है। एतदर्थ ही
आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्पूर्ण विरोधों का शमन करने वाले अनेकान्तवाद
को नमस्कार किया है।[1]

स्याद्वाद पर मिथ्या आक्षेप

स्याद्वाद के सही अर्थ की उपेक्षा कर भारत के अनेक दार्शनिक
विज्ञों ने उस पर मिथ्या आरोप लगाए हैं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने
स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा और जैनों को निर्लज्ज बताया।[2]
शान्तरक्षित ने भी लिखा—स्याद्वाद जो कि सत् और असत्, एक और
अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों को

१. परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २

२. प्रमाणवार्तिक १. १८२—१८४

मिलाता है, पागल व्यक्ति की बौखलाहट है।[1] इसी तरह आचार्य शंकर ने भी स्याद्वाद पर पागलपन का आरोप लगाते हुए लिखा—"एक ही समय शीत और उष्ण नहीं हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत् अंधकार और प्रकाश की तरह की एक काल में एक ही वस्तु में नहीं रह सकते।"[2] डा० राधाकृष्णन ने उसे अर्ध सत्य कहकर त्याज्य बताया। स्याद्वाद का उपहास करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा—"दही, दही भी है और ऊँट भी। तो दही खाने के समय ऊँट खाने को क्यों नहीं दौड़ते।"[3] इस प्रकार अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाये गये हैं, पर चिन्तन करने पर ये सभी निराधार सिद्ध होते हैं।

स्याद्वाद की चिन्तन : शैली

प्रश्न है कि एक ही वस्तु में नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं? उत्तर में नम्र निवेदन है कि स्याद्वाद यह नहीं कहता कि जो नित्यता है वही अनित्यता है तथा जो एकता है, वही अनेकता है। किन्तु स्याद्वाद का कहना है, कि एक दृष्टि से एक पदार्थ नित्य है, दूसरी दृष्टि से अनित्य भी। एक व्यक्ति एक दृष्टि से पिता है, तो दूसरी दृष्टि से पुत्र भी। इसमें विरोध कहाँ है? जैन ही नहीं बौद्ध भी चित्रज्ञान में विरोध नहीं मानते। जब एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान में विरोध नहीं होता, तो एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्मों की सत्ता स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है? एक वस्त्र श्याम और श्वेत हो सकता है, एक ही वस्त्र संकोच और विकासशील हो सकता है, तो एक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता की सत्ता विरोधी कैसे हो सकती है?

कल्पना कीजिए—एक वस्त्र की दुकान पर ग्राहक पहुँचा। उसने दुकानदार से प्रश्न किया—"यह वस्त्र ऊन का है न!" दुकानदार ने उत्तर दिया—"हाँ, यह ऊन का है।" दूसरे ग्राहक ने पुनः उसी वस्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न किया—"क्या यह वस्त्र रेशम का है?" दुकानदार उत्तर दिया—"नहीं, यह रेशम का नहीं है।" यहाँ 'यह ऊन का है' यह कथन जितना सत्य

---

१. तत्त्वसंग्रह ३११—३२७

२. शांकर भाष्य २।२।३३

३. दर्शन दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन

है' उतना ही 'रेशम का नहीं है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के सम्बन्ध में ऊन की अपेक्षा 'सत्' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' जिसको विरुद्ध प्रतीत होता है।

एक पैन के सम्बन्ध में विविध जिज्ञासाओं का उत्तर विविध रूप से दिया जा सकता है—

१. यह पैन प्लास्टिक का है।
२. यह पैन पारकर कम्पनी द्वारा निर्मित है।
३. यह पैन दिनेश का है।
४. यह पैन इंगलैण्ड का बना हुआ है।
५. यह पैन पच्चीस रुपये का है।
६. यह पैन सन् १९७१ ई० का बना हुआ है।
७. यह पैन लिखने का है।

हाँ, तो देखिए ये सभी प्रश्न एक ही पैन के सम्बन्ध में हैं और उत्तर भी। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न दृष्टि से दिये गये हैं; पर उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

एक भव्य भवन के विभिन्न कोणों से चित्र लिये जायें और उसके पश्चात् उन सभी पोजों को एक साथ रखकर देखा जाए तो परस्पर विरोध प्रतीत होगा। कोणों के परिवर्तन के कारण प्रत्येक पोज (*Pose*) में भवन का सन्निकटवर्ती दृश्य भी परिवर्तित हो जाएगा। अवलोकन करने वाले सहज ही भ्रम में पड़ सकते हैं कि ये सभी पोज एक ही भवन के हैं या भिन्न-भिन्न भवनों के। पर सत्य यह है कि सभी पोजों का समन्वित रूप ही उस भवन का सही रूप है। एतदर्थ ही अनेकान्तवाद वस्तु को अनेक कोणों से अवलोकनार्थ प्रेरणा देता है। जब विविध कोणों से लिए गए दृश्यों की एकत्र अवस्थिति से भवन की स्थिति में किसी भी प्रकार भी अव्यवस्था नहीं होती तो फिर विभिन्न विरोधी स्वभावों के अस्तित्व से वस्तु में वह किस प्रकार संभव है?

आज का युग वैज्ञानिक युग है, विज्ञान के कारण यत्र-तत्र बिजली का प्रकाश हो रहा है। पंखे, बल्ब और स्टोव, हीटर सभी में बिजली दौड़ रही है, पर सभी का व्यवहार भिन्न-भिन्न है। पंखे में उसकी चालक शक्ति कार्य कर रही है, बल्ब में उसका प्रकाश जगमगा रहा है और स्टोव में उसका दाहक गुण काम कर रहा है। यदि एक ही विद्युत्धारा में इन तीनों गुणों का अस्तित्व संभव है तो फिर वस्तु में द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से नित्य और अनित्य का अस्तित्व क्यों संभव नहीं है?

स्याद्वाद के मन्तव्यानुसार प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् है तथा पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत् है। उदाहरण के रूप में एक घड़ा स्व द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्-अस्तित्व युक्त है और पर-द्रव्य प्लास्टिक आदि की अपेक्षा से असत् है अर्थात् घड़ा घड़ा है प्लास्टिक नहीं।

द्रव्य-क्षेत्र की तरह, सत्य की सिद्धि के लिए क्षेत्र भी अपेक्षित है, जैसे भगवान् महावीर का जन्म क्षत्रियकुण्ड नगर में हुआ। भगवान् के जन्म की प्रस्तुत घटना क्षत्रियकुण्ड की दृष्टि से सही है। यदि कोई पावा कहेगा तो असत्य होगी।

द्रव्य-क्षेत्र की तरह काल को भी अपेक्षा है। जैसे भगवान महावीर का जन्म आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य काल का कथन करना असत्य होगा।

इसी तरह भाव भी अपेक्षित है। जैसे पानी में तरलता होती है। इसका अर्थ है कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता सिद्ध होती है; नहीं तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता जो कि पानी नहीं, पर पानी के रूपान्तर हैं।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है, पर-द्रव्यादि की अपेक्षा से नहीं। जैसे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से उसमें अस्ति गुण है, वैसे ही पर-द्रव्यादि की अपेक्षा से नास्ति गुण भी है।

तात्पर्य यह है, कि स्याद्वाद का सिद्धान्त जिन पदार्थों में जो-जो अपेक्षाएँ घटित होती हैं उन्हें स्वीकार करता है अपेक्षारहित सिद्धान्त उसे मान्य नहीं है। अश्वशृंग, आकाश कुसुम और वन्ध्या-पुत्र के अस्तित्व को सिद्ध करने करने हेतु स्याद्वाद की अपेक्षा अपेक्षित नहीं है। क्योंकि इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है।

प्रस्तुत विचार-चर्चा का निष्कर्ष यह रहा कि दार्शनिक क्षेत्र में जिस प्रकार स्याद्वाद का सिद्धान्त उपयोगी है, उसी प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में भी उसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। वह सत्य तथ्य का परिज्ञान कराने वाला अपूर्व मंत्र है।

जैसे जैन दर्शन ने वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की वैसे ही बौद्ध दर्शन ने भी विभज्यवाद के नाम पर की; किन्तु अनुकूल वातावरण के अभाव में वह वहीं पर मुरझाकर नष्ट हो गया;

जबकि स्याद्वाद के सिद्धान्त को समय-समय पर प्रतापपूर्ण प्रतिभासम्पन्न आचार्यों ने अपने मौलिक चिन्तन से विकसित किया। भेदाभेदवाद, नित्यानित्यवाद निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेकवाद, सदसद्वाद, सदसत्-कार्यवाद प्रभृति जितने भी दार्शनिक क्षेत्र में वाद हैं, उन सभी का मूल

जबकि स्याद्वाद के सिद्धान्त को समय-समय पर प्रतापपूर्ण प्रतिभासम्पन्न आचार्यों ने अपने मौलिक चिंतन से विकसित किया। भेदाभेदवाद, नित्यानित्यवाद निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेकवाद, सदसद्वाद, सदसत्-पर्यायवाद प्रभृति जितने भी दार्शनिक क्षेत्र में वाद हैं, उन सभी का मूल आधार स्याद्वाद है।
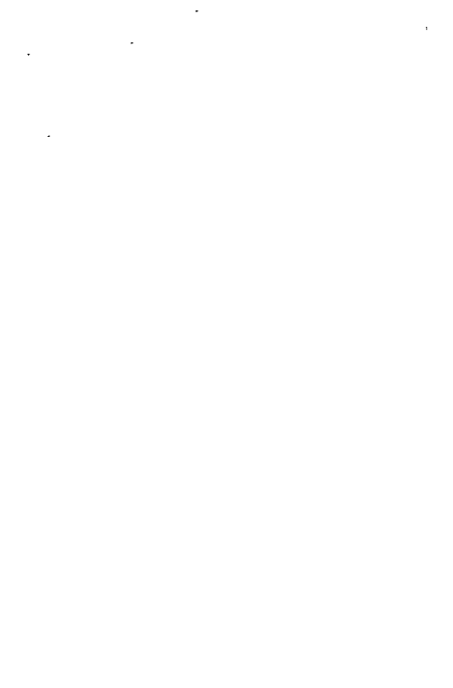
स्याद्वाद जैन दर्शन की विश्व को अपूर्व देन है। जैन दर्शन में स्याद्वाद का इतना अधिक महत्त्व रहा है कि जिसके कारण यह जैनदर्शन का पर्यायवाची बन गया है। स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है, आत्मा है और आत्म-कल्याण का अमोघ साधन है। इससे ज्ञान का विस्तार होता है, निष्ठा निर्मल होती है, संघर्ष, विध्वंस और विस्मय नष्ट होकर सत्य और अहिंसा के आधार पर मेल और मिलाप उत्पन्न होता है। स्याद्वाद का सुहावना सिद्धान्त चाहे दर्शन का क्षेत्र हो, चाहे लोक व्यवहार का वह सर्वत्र समन्वय और समता को सिरजता है। सत्य भगवान के दर्शन कराता है। इस सिद्धान्त को अपनाकर तथा इसके अनुसार जीवन-जगत् के सभी व्यवहार करके मानव सुखी रह सकता है। मानव के मानसिक, आत्मिक सभी प्रकार के सुख का साधन है—स्याद्वाद।

आप लोग भी भगवान महावीर की इस अनुपम देन को हृदयंगम करिए, इसके अनुसार अपने आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि करिए, वाणी में, विचारों में अहिंसा और अविरोध रखिए। मुझे विश्वास है आप समता के सागर में डुबकी लगाएँगे और अपने आत्मा की सर्वतोमुखी उन्नति करेंगे, आपका जीवन ऊर्जस्वी, तेजस्वी बनेगा, आपकी चेतना का ऊर्ध्वारोहण होगा। □□